॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

(दूसरा अध्याय)

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ १ ॥

संजय बोले—

तथा	=वैसी	**अश्रुपूर्णा-**		**मधुसूदनः**	=भगवान् मधुसूदन
कृपया	=कायरतासे	**कुलेक्षणम्**	=आँसुओंके कारण जिनके नेत्रोंकी देखनेकी शक्ति अवरुद्ध हो रही है,	**इदम्**	=यह (आगे कहे जानेवाले)
आविष्टम्	=व्याप्त हुए			**वाक्यम्**	=वचन
तम्	=उन अर्जुनके प्रति,			**उवाच**	=बोले।
विषीदन्तम्	=जो कि विषाद कर रहे हैं (और)				

~~~~

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—

अर्जुन	=हे अर्जुन!	**कुतः**	=कहाँसे	**अस्वर्ग्यम्**	=(जो) स्वर्गको देनेवाली नहीं है (और)
विषमे	=इस विषम अवसरपर	**समुपस्थितम्**	=प्राप्त हुई, (जिसका कि)	**अकीर्तिकरम्**	=कीर्ति करनेवाली भी नहीं है।
त्वा	=तुम्हें	**अनार्यजुष्टम्**	=श्रेष्ठ पुरुष सेवन नहीं करते,		
इदम्	=यह				
कश्मलम्	=कायरता				

~~~~

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ ३ ॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन अर्जुन!	**त्वयि**	=तुम्हारेमें	**हृदयदौर्बल्यम्**	=हृदयकी इस तुच्छ दुर्बलताका
क्लैब्यम्	=इस नपुंसकताको	**एतत्**	=यह	**त्यक्त्वा**	=त्याग करके (युद्धके लिये)
मा, स्म,	=मत प्राप्त हो;	**न, उपपद्यते**	=उचित नहीं है।	**उत्तिष्ठ**	=खड़े हो जाओ।
गमः	=(क्योंकि)	**परन्तप**	=हे परन्तप!		
		क्षुद्रम्,			

विशेष भाव—इस बातका विस्तार भगवान्ने आगे इकतीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक किया है।

~~~~
~~~~

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ ४॥

अर्जुन बोले—

मधुसूदन	= हे मधुसूदन!	**द्रोणम्**	= द्रोणके		(क्योंकि)
अहम्	= मैं	**प्रति**	= साथ	**अरिसूदन**	= हे अरिसूदन!
सङ्ख्ये	= रणभूमिमें	**इषुभिः**	= बाणोंसे		(ये)
भीष्मम्	= भीष्म	**कथम्**	= कैसे	**पूजार्हौ**	= दोनों ही पूजाके
च	= और	**योत्स्यामि**	= युद्ध करूँ?		योग्य हैं।

~~~

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ ५॥

महानुभावान्	= महानुभाव	**अपि**	= भी		(तथा)
गुरून्	= गुरुजनोंको	**श्रेयः**	= श्रेष्ठ (समझता हूँ);	**अर्थकामान्**	= धनकी कामनाकी
अहत्वा	= न मारकर	**हि**	= क्योंकि		मुख्यतावाले
इह	= इस	**गुरून्**	= गुरुजनोंको	**भोगान्**	= भोगोंको
लोके	= लोकमें (मैं)	**हत्वा**	= मारकर	**एव**	= ही
भैक्ष्यम्	= भिक्षाका अन्न	**इह**	= यहाँ	**तु**	= तो
भोक्तुम्	= खाना	**रुधिरप्रदिग्धान्**	= रक्तसे सने हुए	**भुञ्जीय**	= भोगूँगा!

विशेष भाव—'महानुभावान्'—भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनोंका अनुभाव, भीतरका भाव श्रेष्ठ है, शुद्ध है; क्योंकि युद्ध करते हुए भी उनमें पक्षपात नहीं है।

~~~

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो-
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ ६॥

एतद्	= (हम) यह		न करना—इन)	**नः**	= हमें
च	= भी	**कतरत्**	= दोनोंमेंसे कौन-सा	**जयेयुः**	= जीतेंगे।
न	= नहीं	**गरीयः**	= अत्यन्त श्रेष्ठ है	**यान्**	= जिनको
विद्मः	= जानते (कि)	**यत्, वा**	= अथवा (हम उन्हें)	**हत्वा**	= मारकर (हम)
नः	= हमलोगोंके लिये	**जयेम**	= जीतेंगे	**न, जिजीविषामः**	= जीना भी
	(युद्ध करना और	**यदि, वा**	= या (वे)		नहीं चाहते,

ते = वे
एव = ही
धार्तराष्ट्राः = धृतराष्ट्रके सम्बन्धी
प्रमुखे = (हमारे) सामने
अवस्थिताः = खड़े हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ ७॥

कार्पण्य-दोषोपहतस्वभाव: =कायरतारूप दोषसे तिरस्कृत स्वभाववाला (और)
धर्मसम्मूढचेताः =धर्मके विषयमें मोहित अन्तः-करणवाला (मैं)
त्वाम् = आपसे
पृच्छामि = पूछता हूँ (कि)
यत् = जो
निश्चितम् = निश्चित
श्रेयः = कल्याण करनेवाली
स्यात् = हो,
तत् = वह (बात)
मे = मेरे लिये
ब्रूहि = कहिये।
अहम् = मैं
ते = आपका
शिष्यः = शिष्य हूँ।
त्वाम् = आपके
प्रपन्नम् = शरण हुए
माम् = मुझे
शाधि = शिक्षा दीजिये।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं-
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ ८॥

हि = कारण कि
भूमौ = पृथ्वीपर
ऋद्धम् = धन-धान्य-समृद्ध (और)
असपत्नम् = शत्रुरहित
राज्यम् = राज्य
च = तथा
सुराणाम् = (स्वर्गमें) देवताओंका
आधिपत्यम् = आधिपत्य
अवाप्य = मिल जाय
अपि = तो भी
इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियोंको
उच्छोषणम् = सुखानेवाला
मम = मेरा
यत् = जो
शोकम् = शोक है, (वह)
अपनुद्यात् = दूर हो जाय (—ऐसा मैं)
न = नहीं
प्रपश्यामि = देखता हूँ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

संजय बोले—

परन्तप = हे शत्रुतापन धृतराष्ट्र!
एवम् = ऐसा
उक्त्वा = कहकर
गुडाकेशः = निद्राको जीतनेवाले अर्जुन
हृषीकेशम् = अन्तर्यामी
गोविन्दम् = भगवान् गोविन्दसे
न, योत्स्ये = 'मैं युद्ध नहीं

	करूँगा'	ह	=साफ-साफ	तूष्णीम्	=चुप
इति	=ऐसा	उक्त्वा	=कहकर	बभूव	=हो गये।

~~~

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

भारत	=हे भरतवंशोद्भव धृतराष्ट्र!	विषीदन्तम्	=विषाद करते हुए		हृषीकेश
उभयोः	=दोनों		=उस (अर्जुनके प्रति)	इदम्	=यह (आगे कहे जानेवाले)
सेनयोः	=सेनाओंके	प्रहसन्, इव	=हँसते हुए-से	वचः	=वचन
मध्ये	=मध्यभागमें	हृषीकेशः	=भगवान्	उवाच	=बोले।

विशेष भाव—धर्मभूमि कुरुक्षेत्रके एक भागमें कौरव-सेना खड़ी है और दूसरे भागमें पाण्डव-सेना। दोनों सेनाओंके मध्यभागमें श्वेत घोड़ोंसे युक्त एक महान् रथ खड़ा है। उस रथके एक भागमें भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हैं और एक भागमें अर्जुन! अर्जुनके निमित्त मनुष्यमात्रका कल्याण करनेके लिये भगवान् अपना अलौकिक उपदेश आरम्भ करते हैं और सर्वप्रथम शरीर तथा शरीरीके विभागका वर्णन करते हैं।

~~~

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

श्रीभगवान् बोले—

त्वम्	=तुमने		की बातें	च	=और
अशोच्यान्	=शोक न करनेयोग्यका	भाषसे	=कह रहे हो; (परन्तु)	अगतासून्	=जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये
अन्वशोचः	=शोक किया है	गतासून्	=जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये	पण्डिताः	=पण्डितलोग
च	=और			न, अनुशोचन्ति	= शोक नहीं करते।
प्रज्ञावादान्	=विद्वत्ता (पण्डिताई)				

विशेष भाव—एक विभाग शरीरका है और एक विभाग शरीरी (शरीरवाले) का है। दोनों एक-दूसरेसे सर्वथा सम्बन्ध-रहित हैं। दोनोंका स्वभाव ही अलग-अलग है। एक जड़ है, एक चेतन। एक नाशवान् है, एक अविनाशी। एक विकारी है, एक निर्विकार। एकमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता है और एक अनन्तकालतक ज्यों-का-त्यों ही रहता है—'**भूतग्रामः स एवायम्**' (गीता ८। १९), '**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**' (गीता १४। २)।

शरीर और शरीरी—दोनों ही अशोच्य हैं। शरीरका निरन्तर विनाश होता है; अतः उसके लिये शोक करना नहीं बनता, और शरीरीका विनाश कभी होता ही नहीं; अतः उसके लिये भी शोक करना नहीं बनता। शोक केवल मूर्खतासे होता है। शरीरकी निरन्तर सहजनिवृत्ति है और शरीरी निरन्तर सबको प्राप्त है। शरीर और शरीरीके इस विभागको जाननेवाले विवेकी मनुष्य मृत अथवा जीवित, किसी भी प्राणीके लिये कभी शोक नहीं करते। उनकी दृष्टिमें बदलनेवाले शरीरका विभाग ही अलग है और न बदलनेवाले शरीरी अर्थात् स्वरूपकी सत्ताका विभाग ही अलग है।

गीताका उपदेश शरीर और शरीरीके भेदसे आरम्भ होता है। दूसरे दार्शनिक ग्रन्थ तो आत्मा और अनात्माका इदंतासे वर्णन करते हैं, पर गीता इदंतासे आत्मा-अनात्माका वर्णन न करके सबके अनुभवके अनुसार देह-देही, शरीर-शरीरीका वर्णन करती है। यह गीताकी विलक्षणता है! साधक अपना कल्याण चाहता है तो उसके लिये सबसे

पहले यह जानना आवश्यक है कि 'मैं कौन हूँ'। अर्जुनने भी अपने कल्याणका उपाय पूछा है—**'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'** (२। ७)। देह और देहीका भेद स्वीकार करनेसे ही कल्याण हो सकता है। जबतक 'मैं देह हूँ'—यह भाव रहेगा, तबतक कितना ही उपदेश सुनते रहें, सुनाते रहें और साधन भी करते रहें, कल्याण नहीं होगा।

जो वस्तु अपनी न हो, उसको अपना मान लेना और जो वस्तु वास्तवमें अपनी हो, उसको अपना न मानना बहुत बड़ी भूल है। अपनी वस्तु वही हो सकती है, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें। शरीर एक क्षण भी हमारे साथ नहीं रहता और परमात्मा निरन्तर हमारे साथ रहते हैं। कारण कि शरीरकी सजातीयता संसारके साथ है और हमारी अर्थात् शरीरीकी सजातीयता परमात्माके साथ है। इसलिये शरीरको अपना मानना और परमात्माको अपना न मानना सबसे बड़ी भूल है। इस भूलको मिटानेके लिये भगवान् गीतामें सबसे पहले शरीर-शरीरीके भेदका वर्णन करते हैं और साधकको उद्बोधन करते हैं कि जिसकी मृत्यु होती है, वह तुम नहीं हो अर्थात् तुम शरीर नहीं हो। तुम ज्ञाता (जाननेवाले) हो, शरीर ज्ञेय (जाननेमें आनेवाला) है। (गीता १३। १) तुम सर्वदेशीय हो—**'नित्यः सर्वगतः'** (गीता २। २४), **'येन सर्वमिदं ततम्'** (गीता २। १७), शरीर एकदेशीय है। तुम चिन्मय लोकके निवासी हो, शरीर जड़ संसारका निवासी है। तुम मुझ परमात्माके अंश हो—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७), शरीर प्रकृतिका अंश है—**'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि'** (गीता १५। ७)। तुम निरन्तर अमरतामें रहते हो, शरीर निरन्तर मृत्युमें रहता है। शरीरकी क्षतिसे तुम्हारी किंचिन्मात्र भी क्षति नहीं होती। अतः शरीरको लेकर तुम्हें शोक, चिन्ता, भय आदि नहीं होने चाहिये।

शरीरी किसी शरीरसे लिप्त नहीं है, इसलिये उसको सर्वव्यापी कहा गया है—**'सर्वगतः'** (गीता २। २४), **'येन सर्वमिदं ततम्'** (२। १७)। तात्पर्य हुआ कि साधकका स्वरूप सत्तामात्र है; अतः वास्तवमें वह शरीरी (शरीरवाला) नहीं है, प्रत्युत अशरीरी है। इसलिये भगवान्ने उसको अव्यक्त भी कहा है—**'अव्यक्तः'** (२। २५), **'अव्यक्तादीनि भूतानि'** (२। २८)। शरीर प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला और असत् है। असत्की सत्ता विद्यमान नहीं है—**'नासतो विद्यते भावः'** (२। १६)। जिसकी सत्ता विद्यमान नहीं है, ऐसे असत् शरीरको लेकर साधक शरीरी (शरीरवाला) कैसे हो सकता है? इसलिये साधक शरीर भी नहीं है और शरीरी भी नहीं है। परन्तु इस प्रकरणमें भगवान्ने साधकोंको समझानेकी दृष्टिसे उस सत्तामात्र स्वरूपको 'शरीरी' (देही) नामसे कहा है। 'शरीरी' कहनेका तात्पर्य यही बताना है कि तुम शरीर नहीं हो।

जिस समय हम शरीर और शरीरीका विचार करते हैं, उस समय भी शरीर और शरीरी वैसे ही हैं और जिस समय विचार नहीं करते, उस समय भी वे वैसे ही हैं। विचार करनेसे वस्तुस्थितिमें तो कोई फर्क नहीं पड़ता, पर साधकका मोह मिट जाता है, उसका मनुष्यजन्म सफल हो जाता है।

मनुष्यशरीर विवेकप्रधान है। अतः 'मैं शरीर नहीं हूँ'—यह विवेक मनुष्यशरीरमें ही हो सकता है। शरीरको मैं-मेरा मानना मनुष्यबुद्धि नहीं है, प्रत्युत पशुबुद्धि है। इसलिये श्रीशुकदेवजी महाराज राजा परीक्षित्से कहते हैं—

त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥

(श्रीमद्भा० १२। ५। २)

'हे राजन्! अब तुम यह पशुबुद्धि छोड़ दो कि मैं मर जाऊँगा। जैसे शरीर पहले नहीं था, पीछे पैदा हुआ और फिर मर जायगा, ऐसे तुम पहले नहीं थे, पीछे पैदा हुए और फिर मर जाओगे—यह बात नहीं है।'

~~~~

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२॥

जातु	=किसी कालमें	**जनाधिपाः**	=राजालोग	**वयम्**	=(मैं, तू और राजालोग—) हम
अहम्	=मैं	**न**	=नहीं (थे),	**सर्वे**	=सभी
न	=नहीं	**न, तु, एव**	=यह बात भी नहीं है;	**न**	=नहीं
आसम्	=था (और)	**च**	=और	**भविष्यामः**	=रहेंगे,
त्वम्	=तू	**अतः**	=इसके	**एव**	=(यह बात) भी
न	=नहीं (था)	**परम्**	=बाद (भविष्यमें)	**न**	=नहीं है।
इमे	=(तथा) ये				
~~~~

विशेष भाव—इस श्लोकमें परमात्मा और जीवात्माके साधर्म्यका वर्णन है। भगवान् कहते हैं कि मैं कृष्णरूपसे, तू अर्जुनरूपसे तथा सब लोग राजारूपसे पहले भी नहीं थे और आगे भी नहीं रहेंगे, पर सत्तारूपसे हम सब पहले भी थे और आगे भी रहेंगे। तात्पर्य है कि मैं, तू तथा राजालोग—ये तीनों शरीरको लेकर तो अलग-अलग हैं, पर सत्ताको लेकर एक ही हैं। शरीर तो पहले भी नहीं थे और बादमें भी नहीं रहेंगे, पर स्वरूप (स्वयं) की सत्ता पहले भी थी, बादमें भी रहेगी और वर्तमानमें है ही। जब ये शरीर नहीं थे, तब भी सत्ता थी और जब ये शरीर नहीं रहेंगे, तब भी सत्ता रहेगी। एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है।

मैं, तू तथा ये राजालोग—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि परमात्माकी सत्ता और जीवकी सत्ता एक ही है अर्थात् 'है' और 'हूँ'—दोनोंमें एक ही चिन्मय सत्ता है। 'मैं' (अहम्) के सम्बन्धसे ही 'हूँ' है। अगर 'मैं' (अहम्) का सम्बन्ध न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' ही रहेगा। वह 'है' अर्थात् चिन्मय सत्तामात्र ही हमारा स्वरूप है, शरीर हमारा स्वरूप नहीं है। इसलिये शरीरको लेकर शोक नहीं करना चाहिये।

भूतकाल और भविष्यकालकी घटना जितनी दूर दीखती है, उतनी ही दूर वर्तमान भी है। जैसे भूत और भविष्यसे हमारा सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही वर्तमानसे भी हमारा सम्बन्ध नहीं है। जब सम्बन्ध ही नहीं है, तो फिर भूत, भविष्य और वर्तमानमें क्या फर्क हुआ? ये तीनों कालके अन्तर्गत हैं, जबकि हमारा स्वरूप कालसे अतीत है। कालका तो खण्ड होता है, पर स्वरूप (सत्ता) अखण्ड है। शरीरको अपना स्वरूप माननेसे ही भूत, भविष्य और वर्तमानमें फर्क दीखता है। वास्तवमें भूत, भविष्य और वर्तमान विद्यमान है ही नहीं!

अनेक युग बदल जायँ तो भी शरीरी बदलता नहीं, वह-का-वह ही रहता है; क्योंकि वह परमात्माका अंश है। परन्तु शरीर बदलता ही रहता है, क्षणमात्र भी वह नहीं रहता।

~~~

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥

देहिनः	= देहधारीके	**यौवनम्**	= जवानी (और)		प्राप्ति होती है।
अस्मिन्	= इस	**जरा**	= वृद्धावस्था	**तत्र**	= उस विषयमें
देहे	= मनुष्यशरीरमें		(होती है),	**धीरः**	= धीर मनुष्य
यथा	= जैसे	**तथा**	= ऐसे ही	**न, मुह्यति**	= मोहित नहीं
कौमारम्	= बालकपन,	**देहान्तरप्राप्तिः**	= दूसरे शरीरकी		होता।

विशेष भाव—शरीर कभी एकरूप रहता ही नहीं और सत्ता कभी अनेकरूप होती ही नहीं। शरीर जन्मसे पहले भी नहीं था, मरनेके बाद भी नहीं रहेगा तथा वर्तमानमें भी वह प्रतिक्षण मर रहा है। वास्तवमें गर्भमें आते ही शरीरके मरनेका क्रम (परिवर्तन) शुरू हो जाता है। बाल्यावस्था मर जाय तो युवावस्था आ जाती है, युवावस्था मर जाय तो वृद्धावस्था आ जाती है और वृद्धावस्था मर जाय तो देहान्तर-अवस्था अर्थात् दूसरे शरीरकी प्राप्ति हो जाती है। ये सब अवस्थाएँ शरीरकी हैं। बाल, युवा और वृद्ध—ये तीन अवस्थाएँ स्थूलशरीरकी हैं और देहान्तरकी प्राप्ति सूक्ष्मशरीर तथा कारणशरीरकी है। परन्तु स्वरूपकी चिन्मय सत्ता इन सभी अवस्थाओंसे अतीत है। अवस्थाएँ बदलती हैं, स्वरूप वही रहता है। इस प्रकार शरीर-विभाग और सत्ता-विभागको अलग-अलग जाननेवाला तत्त्वज्ञ पुरुष कभी किसी अवस्थामें भी मोहित नहीं होता।

जीव अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये अनेक योनियोंमें जाता है, नरक और स्वर्गमें जाता है—ऐसा कहनेमात्रसे सिद्ध होता है कि चौरासी लाख योनियाँ छूट जाती हैं, स्वर्ग और नरक छूट जाते हैं, पर स्वयं (शरीरी) वही रहता है। योनियाँ (शरीर) बदलती हैं, जीव (शरीरी) नहीं बदलता। जीव एक रहता है, तभी तो वह अनेक योनियोंमें, अनेक लोकोंमें जाता है। जो अनेक योनियोंमें जाता है, वह स्वयं किसीके साथ लिप्त नहीं होता, कहीं नहीं फँसता। अगर वह लिप्त हो जाय, फँस जाय तो फिर चौरासी लाख योनियोंको कौन भोगेगा? स्वर्ग और नरकमें
~~~

कौन जायगा? मुक्त कौन होगा?

जन्मना और मरना हमारा धर्म नहीं है, प्रत्युत शरीरका धर्म है। हमारी आयु अनादि और अनन्त है, जिसके अन्तर्गत अनेक शरीर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। जैसे हम अनेक वस्त्र बदलते रहते हैं, पर वस्त्र बदलनेपर हम नहीं बदलते, प्रत्युत वे-के-वे ही रहते हैं (गीता २। २२)। ऐसे ही अनेक योनियोंमें जानेपर भी हमारी सत्ता नित्य-निरन्तर ज्यों-की-त्यों रहती है। तात्पर्य है कि हमारी स्वतन्त्रता और असंगता स्वतःसिद्ध है। हमारा जीवन किसी एक शरीरके अधीन नहीं है। असंग होनेके कारण ही हम अनेक शरीरोंमें जानेपर भी वही रहते हैं, पर शरीरके साथ संग मान लेनेके कारण हम अनेक शरीरोंको धारण करते रहते हैं। माना हुआ संग तो टिकता नहीं, पर हम नया-नया संग पकड़ते रहते हैं। अगर नया संग न पकड़ें तो मुक्ति (असंगता), स्वाधीनता स्वतःसिद्ध है।

~~~~

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ १४॥

कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन!
मात्रास्पर्शाः	= इन्द्रियोंके विषय (जड़ पदार्थ)
तु	= तो
शीतोष्ण-सुखदुःखदाः	= शीत (अनुकूलता) और उष्ण (प्रतिकूलता) के द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं (तथा)
आगमापायिनः	= आने-जानेवाले (और)
अनित्याः	= अनित्य हैं।
भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!
तान्	= उनको (तुम)
तितिक्षस्व	= सहन करो।

विशेष भाव—जैसे शरीर कभी एकरूप नहीं रहता, प्रतिक्षण बदलता रहता है, ऐसे ही इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जिनका ज्ञान होता है, वे सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थ (मात्र प्रकृति और प्रकृतिका कार्य) भी कभी एकरूप नहीं रहते, उनका संयोग और वियोग होता रहता है। जिन पदार्थोंको हम चाहते हैं, उनके संयोगसे सुख होता है और वियोगसे दुःख होता है। जिन पदार्थोंको हम नहीं चाहते, उनके वियोगसे सुख होता है और संयोगसे दुःख होता है। पदार्थ भी आने-जानेवाले तथा अनित्य हैं। ऐसे ही जिनसे पदार्थोंका ज्ञान होता है, वे इन्द्रियाँ और अन्तःकरण भी आने-जानेवाले तथा अनित्य हैं, और पदार्थोंसे होनेवाला सुख-दुःख भी आने-जानेवाला तथा अनित्य है। परन्तु स्वयं सदा ज्यों-का-त्यों रहनेवाला, निर्विकार तथा नित्य है। अतः उनको सह लेना चाहिये अर्थात् उनके संयोग-वियोगको लेकर सुखी-दुःखी नहीं होना चाहिये, प्रत्युत निर्विकार रहना चाहिये। सुख और दुःख दोनों अलग-अलग होते हैं, पर उनको देखनेवाला एक ही होता है और उन दोनोंसे अलग (निर्विकार) होता है। परिवर्तनशीलको देखनेसे स्वयं (स्वरूप) की अपरिवर्तनशीलता (निर्विकारता) का अनुभव स्वतः होता है।

यहाँ '*शीत*' शब्द अनुकूलताका और '*उष्ण*' शब्द प्रतिकूलताका वाचक है। तात्पर्य है कि ज्यादा सर्दी (ठण्ड) पड़नेसे भी वृक्ष सूख जाता है और ज्यादा गर्मी पड़नेसे भी वृक्ष सूख जाता है; अतः परिणाममें सर्दी और गर्मी—दोनों एक ही हैं। इसी तरह अनुकूलता और प्रतिकूलता भी एक ही हैं। इसलिये भगवान् इन दोनोंको ही सहनेकी अर्थात् इनसे ऊँचा उठनेकी आज्ञा देते हैं।

सुख-दुःख, हर्ष-शोक, राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि आने-जानेवाले, बदलनेवाले हैं, पर स्वयं (स्वरूप) ज्यों-का-त्यों रहनेवाला है। साधकसे यह बहुत बड़ी भूल होती है कि वह बदलनेवाली दशाको देखता है, पर स्वयंको नहीं देखता। दशाको स्वीकार करता है, पर स्वयंको स्वीकार नहीं करता। दशा पहले भी नहीं थी और पीछे भी नहीं रहेगी; अतः बीचमें दीखनेपर भी वह है नहीं। परन्तु स्वयंमें आदि, अन्त और मध्य है ही नहीं। दशा कभी एकरूप रहती ही नहीं और स्वयं कभी अनेकरूप होता ही नहीं। जो दीखता है, वह भी दशा है और जो देखनेवाली (बुद्धि) है, वह भी दशा है। जाननेमें आनेवाली भी दशा है और जाननेवाली भी दशा है। स्वयंमें न दीखनेवाला है, न देखनेवाला है; न जाननेमें आनेवाला है, न जाननेवाला है। ये दीखनेवाला-देखनेवाला आदि सब दशाके
~~~~

अन्तर्गत हैं। दीखनेवाला-देखनेवाला तो नहीं रहेंगे, पर स्वयं रहेगा; क्योंकि दशा तो मिट जायगी, पर स्वयं रह जायगा। तात्पर्य है कि 'दीखनेवाले' (दृश्य) के साथ सम्बन्ध होनेसे ही स्वयं 'देखनेवाला' (द्रष्टा) कहलाता है। अगर 'दीखनेवाले' के साथ सम्बन्ध न रहे तो स्वयं रहेगा, पर उसका नाम 'देखनेवाला' नहीं रहेगा। इसी तरह 'शरीर' के साथ सम्बन्ध होनेसे ही स्वयं (चिन्मय सत्ता) 'शरीरी' कहलाता है। अगर 'शरीर' के साथ सम्बन्ध न रहे तो स्वयं रहेगा, पर उसका नाम 'शरीरी' नहीं रहेगा (गीता १३। १)। अतः भगवान्‌ने केवल मनुष्योंको समझानेके लिये ही 'शरीरी' नाम कहा है।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥

हि	=कारण कि	**धीरम्**	=बुद्धिमान्		नहीं करते,
पुरुषर्षभ	=हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**पुरुषम्**	=मनुष्यको	**सः**	=वह
		एते	=ये मात्रास्पर्श (पदार्थ)	**अमृतत्वाय**	=अमर होनेमें
समदुःखसुखम्	=सुख-दुःखमें सम रहनेवाले	**न, व्यथयन्ति**	=विचलित (सुखी-दुःखी)	**कल्पते**	=समर्थ हो जाता है अर्थात् वह अमर हो जाता है।
यम्	=जिस				

विशेष भाव—स्वरूप सत्तारूप है। सत्तामें कोई व्यथा नहीं है। शरीरमें अपनी स्थिति माननेसे ही व्यथा होती है। अतः शरीरमें अपनी स्थिति मानते हुए कोई भी मनुष्य व्यथारहित नहीं हो सकता। व्यथारहित होनेका तात्पर्य है—प्रियको प्राप्त होकर हर्षित न होना और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न होना (गीता ५। २०)। व्यथारहित होनेसे मनुष्यकी बुद्धि स्थिर हो जाती है—**'स्थिरबुद्धिरसम्मूढः'** (गीता ५। २०)।

सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिसे सुखी-दुःखी होना ही व्यथित होना है। सुखी-दुःखी होना सुख-दुःखका भोग है। भोगी व्यक्ति कभी सुखी नहीं रह सकता। साधकको सुख-दुःखका भोग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत सुख-दुःखका सदुपयोग करना चाहिये। सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिका प्राप्त होना प्रारब्ध है और उस परिस्थितिको साधन-सामग्री मानकर उसका सदुपयोग करना वास्तविक पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थसे अमरताकी प्राप्ति हो जाती है। सुखका सदुपयोग है—दूसरोंको सुख पहुँचाना, उनकी सेवा करना और दुःखका सदुपयोग है—सुखकी इच्छाका त्याग करना। दुःखका सदुपयोग करनेपर साधक दुःखके कारणकी खोज करता है। दुःखका कारण है—सुखकी इच्छा—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'** (गीता ५। २२)। जो सुख-दुःखका भोग करता है, उस भोगीका पतन हो जाता है और जो सुख-दुःखका सदुपयोग करता है, वह योगी सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचे उठकर अमरताका अनुभव कर लेता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥

असतः	=असत्‌का तो	**अभावः**	=अभाव	**उभयोः**	=दोनोंका
भावः	=भाव (सत्ता)	**न, विद्यते**	=विद्यमान नहीं है।	**अपि**	=ही
न, विद्यते	=विद्यमान नहीं है			**अन्तः**	=तत्त्व
		तत्त्वदर्शिभिः	=तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने	**दृष्टः**	=देखा अर्थात् अनुभव किया है।
तु	=और				
सतः	=सत्‌का	**अनयोः**	=इन		

विशेष भाव—सत्तामात्र 'सत्' है और सत्ताके सिवाय जो कुछ भी प्रकृति और प्रकृतिका कार्य (क्रिया और पदार्थ) है, वह 'असत्' अर्थात् परिवर्तनशील है। जिन महापुरुषोंने सत् और असत्—दोनोंका तत्त्व देखा है अर्थात् जिनको सत्तामात्रमें अपनी स्वत:सिद्ध स्थितिका अनुभव हो गया है, उनकी दृष्टि (अनुभव) में असत्‌की सत्ता विद्यमान है ही नहीं और सत्‌का अभाव विद्यमान है ही नहीं अर्थात् सत्तामात्र (सत्-तत्त्व) के सिवाय कुछ भी नहीं है।

भगवान्‌ने चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें शरीरकी अनित्यताका वर्णन किया था, उसको यहाँ '**नासतो विद्यते भाव:**' पदोंसे कहा है और बारहवें-तेरहवें श्लोकोंमें शरीरीकी नित्यताका वर्णन किया था, उसको यहाँ '**नाभावो विद्यते सत:**' पदोंसे कहा है।

'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:**'—इन सोलह अक्षरोंमें सम्पूर्ण वेदों, पुराणों, शास्त्रोंका तात्पर्य भरा हुआ है! असत् और सत्—इन दोनोंको ही प्रकृति और पुरुष, क्षर और अक्षर, शरीर और शरीरी, अनित्य और नित्य, नाशवान् और अविनाशी आदि अनेक नामोंसे कहा गया है। देखने, सुनने, समझने, चिन्तन करने, निश्चय करने आदिमें जो कुछ भी आता है, वह सब 'असत्' है। जिसके द्वारा देखते, सुनते, चिन्तन आदि करते हैं, वह भी 'असत्' है और दीखनेवाला भी 'असत्' है।

इस श्लोकार्ध (सोलह अक्षरों) में तीन धातुओंका प्रयोग हुआ है—

(१) '**भू सत्तायाम्**'—जैसे, '**अभाव:**' और '**भाव:**'।

(२) '**अस् भुवि**'—जैसे, '**असत:**' और '**सत:**'।

(३) '**विद् सत्तायाम्**'—जैसे, '**विद्यते**' और '**न विद्यते**'।

यद्यपि इन तीनों धातुओंका मूल अर्थ एक 'सत्ता' ही है, तथापि सूक्ष्मरूपसे ये तीनों अपना स्वतन्त्र अर्थ भी रखते हैं; जैसे—'**भू**' धातुका अर्थ 'उत्पत्ति' है, '**अस्**' धातुका अर्थ 'सत्ता' (होनापन) है और '**विद्**' धातुका अर्थ 'विद्यमानता' (वर्तमानकी सत्ता) है।

'**नासतो विद्यते भाव:**' पदोंका अर्थ है—'**असत: भाव: न विद्यते**' अर्थात् असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है, प्रत्युत असत्‌का अभाव ही विद्यमान है; क्योंकि इसका निरन्तर अभाव (परिवर्तन) होता ही रहता है। असत् वर्तमान नहीं है। असत् उपस्थित नहीं है। असत् प्राप्त नहीं है। असत् मिला हुआ नहीं है। असत् मौजूद नहीं है। असत् कायम नहीं है। जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश अवश्य होता है—यह नियम है। उत्पन्न होते ही तत्काल उस वस्तुका नाश शुरू हो जाता है। उसका नाश इतनी तेजीसे होता है कि उसको दो बार कोई देख ही नहीं सकता अर्थात् उसको एक बार देखनेपर फिर दुबारा उसी स्थितिमें नहीं देखा जा सकता। यह सिद्धान्त है कि जिस वस्तुका किसी भी क्षण अभाव है, उसका सदा अभाव ही है। अत: संसारका सदा ही अभाव है। संसारको कितनी ही सत्ता दें, कितना ही महत्त्व दें, पर वास्तवमें वह विद्यमान है ही नहीं। असत् प्राप्त है ही नहीं, कभी प्राप्त हुआ ही नहीं, कभी प्राप्त होगा ही नहीं। असत्‌का प्राप्त होना सम्भव ही नहीं है।

'**नाभावो विद्यते सत:**' पदोंका अर्थ है—'**सत: अभाव: न विद्यते**' अर्थात् सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है, प्रत्युत सत्‌का भाव ही विद्यमान है; क्योंकि इसका कभी अभाव (परिवर्तन) होता ही नहीं। जिसका अभाव हो जाय, उसको सत् कहते ही नहीं। सत्‌की सत्ता निरन्तर विद्यमान है। सत् निरन्तर वर्तमान है। सत् निरन्तर उपस्थित है। सत् निरन्तर प्राप्त है। सत् निरन्तर मिला हुआ है। सत् निरन्तर मौजूद है। सत् निरन्तर कायम है। किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदिमें सत्‌का अभाव नहीं होता। कारण कि देश, काल, वस्तु आदि तो असत् (अभावरूप अर्थात् निरन्तर परिवर्तनशील) है, पर सत् सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता, कोई कमी नहीं आती। अत: सत्‌का सदा ही भाव है। परमात्मतत्त्वको कितना ही अस्वीकार करें, उसकी कितनी ही उपेक्षा करें, उससे कितना ही विमुख हो जायँ, उसका कितना ही तिरस्कार करें, उसका कितनी ही युक्तियोंसे खण्डन करें, पर वास्तवमें उसका अभाव विद्यमान है ही नहीं। सत्‌का अभाव होना सम्भव ही नहीं है। सत्‌का अभाव कभी कोई कर सकता ही नहीं (गीता २। १७)।

'**उभयोरपि दृष्ट:**'—तत्त्वदर्शी महापुरुषोंने सत्-तत्त्वको उत्पन्न नहीं किया है, प्रत्युत देखा है अर्थात् अनुभव

किया है। तात्पर्य है कि असत्‌का अभाव और सत्‌का भाव—दोनोंके तत्त्व (निष्कर्ष) को जाननेवाले जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष एक सत्-तत्त्वको ही देखते हैं अर्थात् स्वतः-स्वाभाविक एक 'है' का ही अनुभव करते हैं। असत्‌का तत्त्व भी सत् है और सत्‌का तत्त्व भी सत् है—ऐसा जान लेनेपर उन महापुरुषोंकी दृष्टिमें एक सत्-तत्त्व 'है' के सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं।

असत्‌की सत्ता विद्यमान न रहनेसे उसका अभाव और सत्‌का अभाव विद्यमान न रहनेसे उसका भाव सिद्ध हुआ। निष्कर्ष यह निकला कि असत् है ही नहीं, प्रत्युत सत्-ही-सत् है। उस सत्-तत्त्वमें देह और देहीका विभाग नहीं है।

जबतक असत्‌की सत्ता है, तबतक विवेक है। असत्‌की सत्ता मिटनेपर विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है। '**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः**' —इसमें '**उभयोरपि**' में विवेक है, '**अन्तः**' में तत्त्वज्ञान है और '**दृष्टः**' में अनुभव है अर्थात् विवेक तत्त्वज्ञानमें परिणत हो गया और सत्तामात्र ही शेष रह गयी। एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है—यह ज्ञानमार्गकी सर्वोपरि बात है।

असत्‌की सत्ता नहीं है—यह भी सत्य है और सत्‌का अभाव नहीं है—यह भी सत्य है। सत्यको स्वीकार करना साधकका काम है। साधकको अनुभव हो अथवा न हो, उसको तो सत्यको स्वीकार करना है। 'है' को स्वीकार करना है और 'नहीं' को अस्वीकार करना है—यही वेदान्त है, वेदोंका खास निष्कर्ष है।

संसारमें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'अभाव' मुख्य रहता है। परमात्मामें भाव और अभाव—दोनों दीखते हुए भी 'भाव' मुख्य रहता है। संसारमें 'अभाव' के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं और परमात्मामें 'भाव' के अन्तर्गत भाव-अभाव हैं। दूसरे शब्दोंमें, संसारमें 'नित्यवियोग' के अन्तर्गत संयोग-वियोग हैं और परमात्मामें 'नित्ययोग' के अन्तर्गत योग-वियोग (मिलन-विरह) हैं। अतः संसारमें अभाव ही रहा और परमात्मामें भाव ही रहा।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७॥

अविनाशि	= अविनाशी	**इदम्**	= यह	**विनाशम्**	= विनाश
तु	= तो	**सर्वम्**	= सम्पूर्ण (संसार)	**कश्चित्**	= कोई भी
तत्	= उसको	**ततम्**	= व्याप्त है।	**न**	= नहीं
विद्धि	= जान,	**अस्य**	= इस	**कर्तुम्**	= कर
येन	= जिससे	**अव्ययस्य**	= अविनाशीका	**अर्हति**	= सकता।

विशेष भाव—व्यवहारमें हम कहते हैं कि 'यह मनुष्य है, यह पशु है, यह वृक्ष है, यह मकान है' आदि, तो इसमें 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो पहले भी नहीं थे, पीछे भी नहीं रहेंगे तथा वर्तमानमें भी प्रतिक्षण अभावमें जा रहे हैं। परन्तु इनमें 'है' रूपसे जो सत्ता है, वह सदा ज्यों-की-त्यों है। तात्पर्य है कि 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो संसार (असत्) है और 'है' अविनाशी आत्मतत्त्व (सत्) है। इसलिये 'मनुष्य, पशु, वृक्ष, मकान' आदि तो अलग-अलग हुए, पर इन सबमें 'है' एक ही रहा। इसी तरह मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं देवता हूँ आदिमें शरीर तो अलग-अलग हुए, पर 'हूँ' अथवा 'है' एक ही रहा।

'**येन सर्वमिदं ततम्**'—ये पद यहाँ जीवात्माके लिये आये हैं और आठवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें यही पद परमात्माके लिये आये हैं। इसका तात्पर्य है कि जीवात्माका सर्वव्यापक परमात्माके साथ साधर्म्य है। अतः जैसे परमात्मा संसारसे असंग हैं, ऐसे ही जीवात्मा भी शरीर-संसारसे स्वतः-स्वाभाविक असंग है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४। ३। १५), '**देहेऽस्मिन्पुरुषः परः**' (गीता १३। २२)। जीवात्माकी स्थिति किसी एक शरीरमें नहीं है। वह किसी शरीरसे चिपका हुआ नहीं है। परन्तु इस असंगताका अनुभव न होनेसे ही जन्म-मरण हो रहा है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥ १८॥

अनाशिनः	= अविनाशी,	**शरीरिणः**	= इस शरीरीके	**उक्ताः**	= कहे गये हैं।
अप्रमेयस्य	= जाननेमें न आनेवाले (और)	**इमे**	= ये	**तस्मात्**	= इसलिये
		देहाः	= देह	**भारत**	= हे अर्जुन! (तुम)
नित्यस्य	= नित्य रहनेवाले	**अन्तवन्तः**	= अन्तवाले	**युध्यस्व**	= युद्ध करो।

विशेष भाव— भगवान्‌ने अपने उपदेशके आरम्भमें '**गतासून्**' (मृत) और '**अगतासून्**' (जीवित)—दोनों प्राणियोंको अशोच्य बताया। फिर बारहवें-तेरहवें श्लोकोंमें '**गतासून्**' को अशोच्य बतानेके लिये 'सत्' (नित्य) का वर्णन किया और चौदहवें-पन्द्रहवें श्लोकोंमें '**अगतासून्**' को अशोच्य बतानेके लिये 'असत्' (अनित्य) का वर्णन किया। फिर सत् और असत्—दोनोंका वर्णन सोलहवें श्लोकमें किया। इसके बाद सत्‌के भाव और असत्‌के अभावका विवेचन मुख्यरूपसे सत्रहवें-अठारहवें श्लोकोंमें करके एक प्रकरण पूरा करते हैं।

यद्यपि भाव (होनापन) आत्माका ही है, शरीरका नहीं, तथापि मनुष्यसे भूल यह होती है कि वह पहले शरीरको देखकर फिर उसमें आत्माको देखता है, पहले आकृतिको देखकर फिर भावको देखता है। ऊपर लगायी हुई पालिश कबतक टिकेगी? साधकको विचार करना चाहिये कि आत्मा पहले थी या शरीर पहले था? विचार करनेपर सिद्ध होता है कि आत्मा पहले है, शरीर पीछे है; भाव पहले है, आकृति पीछे है। इसलिये साधककी दृष्टि पहले भावरूप आत्माकी तरफ जानी चाहिये, शरीरकी तरफ नहीं।

~~~

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

यः	= जो मनुष्य	**एनम्**	= इसको	**विजानीतः**	= जानते; (क्योंकि)
एनम्	= इस (अविनाशी शरीरी) को	**हतम्**	= मरा		
		मन्यते	= मानता है,	**अयम्**	= यह
हन्तारम्	= मारनेवाला	**तौ**	= वे	**न**	= न
वेत्ति	= मानता है	**उभौ**	= दोनों ही (इसको)	**हन्ति**	= मारता है (और)
च	= और			**न**	= न
यः	= जो मनुष्य	**न**	= नहीं	**हन्यते**	= मारा जाता है।

विशेष भाव— यह शरीरी न तो किसीको मारता है और न किसीसे मारा ही जाता है—इसका तात्पर्य है कि शरीरी किसी क्रियाका कर्ता भी नहीं है तथा कर्म भी नहीं है और इसमें कोई विकार भी नहीं आता। जो मनुष्य शरीरकी तरह शरीरीको भी मारनेवाला तथा मरनेवाला मानते हैं, वे वास्तवमें शरीर और शरीरीके विवेकको महत्त्व नहीं देते, इसमें स्थित नहीं होते, प्रत्युत अविवेकको महत्त्व देते हैं।

~~~

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥

अयम्	= यह शरीरी	**कदाचित्**	= कभी	**वा**	= और
न	= न	**जायते**	= जन्मता है	**न**	= न

म्रियते	= मरता है	**अयम्**	= यह	**पुराणः**	= अनादि है।
वा	= तथा (यह)	**अजः**	= जन्मरहित,	**शरीरे**	= शरीरके
भूत्वा	= उत्पन्न होकर	**नित्यः**	= नित्य-निरन्तर रहनेवाला,	**हन्यमाने**	= मारे जानेपर भी (यह)
भूयः	= फिर				
भविता	= होनेवाला	**शाश्वतः**	= शाश्वत (और)	**न**	= नहीं
न	= नहीं है।			**हन्यते**	= मारा जाता।

विशेष भाव—हमारा (स्वयंका) और शरीरका स्वभाव बिलकुल अलग-अलग है। हम शरीरके साथ चिपके हुए नहीं हैं, शरीरसे मिले हुए नहीं हैं। शरीर हमारे साथ चिपका हुआ नहीं है, हमारेसे मिला हुआ नहीं है। इसलिये शरीरके न रहनेपर हमारा कुछ भी बिगड़ता नहीं। अबतक हम असंख्य शरीर धारण करके छोड़ चुके हैं, पर उससे हमारी सत्तामें क्या फर्क पड़ा? हमारा क्या नुकसान हुआ? हम तो ज्यों-के-त्यों ही रहे—'**भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**' (गीता ८। १९)। ऐसे ही यह शरीर छूटनेपर भी हम स्वयं ज्यों-के-त्यों ही रहेंगे।

जैसे हाथ, पैर, नासिका आदि शरीरके अंग हैं, ऐसे शरीर शरीरी (स्वयं) का अंग भी नहीं है। जो बहनेवाला और विकारी होता है, वह 'अंग' नहीं होता*; जैसे—कफ, मूत्र आदि बहनेवाले और फोड़ा आदि विकारी होनेसे शरीरके अंग नहीं हैं, ऐसे ही शरीर बहनेवाला (परिवर्तनशील) और विकारी होनेसे शरीरीका अंग नहीं है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २१॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**नित्यम्**	= नित्य,	**कथम्**	= कैसे
यः	= जो	**अजम्**	= जन्मरहित (और)	**कम्**	= किसको
पुरुषः	= मनुष्य	**अव्ययम्**	= अव्यय	**हन्ति**	= मारे (और)
एनम्	= इस शरीरीको	**वेद**	= जानता है,	**कम्**	= (कैसे) किसको
अविनाशिनम्	= अविनाशी,	**सः**	= वह	**घातयति**	= मरवाये?

विशेष भाव—उत्पन्न होनेवाली वस्तु तो स्वतः मिटती है, उसको मिटाना नहीं पड़ता। पर जो वस्तु उत्पन्न नहीं होती, वह कभी मिटती ही नहीं। हमने चौरासी लाख शरीर धारण किये, पर कोई भी शरीर हमारे साथ नहीं रहा और हम किसी भी शरीरके साथ नहीं रहे; किन्तु हम ज्यों-के-त्यों अलग रहे। यह जाननेकी विवेकशक्ति उन शरीरोंमें नहीं थी, प्रत्युत इस मनुष्य-शरीरमें ही है। अगर हम इसको नहीं जानते तो भगवान्‌के दिये विवेकका निरादर करते हैं।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

नरः	= मनुष्य	**जीर्णानि**	= पुराने	**विहाय**	= छोड़कर
यथा	= जैसे	**वासांसि**	= कपड़ोंको	**अपराणि**	= दूसरे

* **अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्। अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम्॥**

नवानि	=नये (कपड़े)	**देही**	=देही	**अन्यानि**	=दूसरे
गृह्णाति	=धारण कर लेता है,	**जीर्णानि**	=पुराने	**नवानि**	=नये (शरीरोंमें)
तथा	=ऐसे ही	**शरीराणि**	=शरीरोंको	**संयाति**	=चला जाता है।
		विहाय	=छोड़कर		

विशेष भाव—मनुष्य नयी-नयी वस्तु चाहता है तो भगवान् भी उसको नयी-नयी वस्तु (शरीरादि सामग्री) देते रहते हैं। शरीर बूढ़ा हो जाता है तो भगवान् उसको नया शरीर दे देते हैं। अतः नयी-नयी इच्छा करना ही जन्म-मरणका हेतु है। नयी-नयी इच्छा करनेवालेको अनन्तकालतक नयी-नयी वस्तु मिलती ही रहेगी। मनुष्यमें एक इच्छाशक्ति है, एक प्राणशक्ति है। इच्छाशक्तिके रहते हुए प्राणशक्ति नष्ट हो जाती है, तब नया जन्म होता है। अगर इच्छाशक्ति न रहे तो प्राणशक्ति नष्ट होनेपर भी पुनः जन्म नहीं होता।

कोई भी दृष्टान्त केवल एक अंशमें घटता है, सर्वथा नहीं घटता। यहाँ पुराने कपड़े छोड़कर नये कपड़े बदलनेका दृष्टान्त केवल इस अंशमें है कि जैसे आदमी अनेक कपड़े बदलनेपर भी एक ही रहता है, ऐसे ही स्वयं अनेक योनियोंमें अनेक शरीर धारण करनेपर भी एक (वही-का-वही) रहता है। जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़नेसे हम मर नहीं जाते और नये कपड़े धारण करनेसे हम पैदा नहीं हो जाते, ऐसे ही पुराने शरीरको छोड़नेसे हम मर नहीं जाते और नया शरीर धारण करनेसे हम पैदा नहीं हो जाते। तात्पर्य है कि शरीर मरता है, हम नहीं मरते। अगर हम मर जायँ तो फिर पुण्य-पापका फल कौन भोगेगा? अन्य योनियोंमें कौन जायगा? बन्धन किसका होगा? मुक्त कौन होगा?

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

शस्त्राणि	=शस्त्र	**एनम्**	=इसको	**न, क्लेदयन्ति**	=गीला नहीं कर सकता
एनम्	=इस (शरीरी) को	**न, दहति**	=जला नहीं सकती,	**च**	=और
न, छिन्दन्ति	=काट नहीं सकते,	**आपः**	=जल	**मारुतः**	=वायु (इसको)
पावकः	=अग्नि	**एनम्**	=इसको	**न, शोषयति**	=सुखा नहीं सकती।

विशेष भाव—हम कहते हैं कि 'शरीर है' तो परिवर्तन शरीरमें होता है, 'है' (शरीरी) में नहीं होता। जैसे, 'काठ है' तो विकृति काठमें आती है, 'है' में नहीं आती। काठ कटता है, 'है' नहीं कटता। काठ जलता है, 'है' नहीं जलता। काठ गीला होता है, 'है' गीला नहीं होता। काठ सूखता है, 'है' नहीं सूखता। काठ कभी एकरूप रहता ही नहीं और 'है' कभी अनेकरूप होता ही नहीं।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

अयम्	=यह शरीरी		नहीं किया जा सकता	**अयम्**	=यह
अच्छेद्यः	=काटा नहीं जा सकता,	**च**	=और	**नित्यः**	=नित्य रहनेवाला,
अयम्	=यह	**अशोष्यः, एव**	=(यह) सुखाया भी नहीं जा सकता। (कारण कि)	**सर्वगतः**	=सबमें परिपूर्ण,
अदाह्यः	=जलाया नहीं जा सकता,			**अचलः**	=अचल,
अक्लेद्यः	=(यह) गीला			**स्थाणुः**	=स्थिर स्वभाववाला (और)
				सनातनः	=अनादि है।

विशेष भाव—'सर्वगतः'—स्वयं देहगत नहीं है, प्रत्युत सर्वगत है—ऐसा अनुभव होना ही जीवन्मुक्ति है। जैसे शरीर संसारमें बैठा हुआ है, ऐसे हम शरीरमें बैठे हुए नहीं हैं। शरीरके साथ हमारा मिलन कभी हुआ ही नहीं, है ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। शरीर हमारेसे बहुत दूर है। परन्तु कामना-ममता-तादात्म्यके कारण हमें शरीरके साथ एकता प्रतीत होती है।

वास्तवमें शरीरीको शरीरकी जरूरत ही नहीं है। शरीरके बिना भी शरीरी मौजसे रहता है!

~~~~

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

अयम्	= यह देही	**अयम्**	= (और) यह	**एवम्**	= ऐसा
अव्यक्तः	= प्रत्यक्ष नहीं दीखता,	**अविकार्यः**	= निर्विकार	**विदित्वा**	= जानकर
अयम्	= यह	**उच्यते**	= कहा जाता है।	**अनुशोचितुम्**	= शोक
अचिन्त्यः	= चिन्तनका विषय नहीं है	**तस्मात्**	= अतः	**न**	= नहीं
		एनम्	= इस देहीको	**अर्हसि**	= करना चाहिये।

~~~~

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ २६॥

महाबाहो	= हे महाबाहो!	**नित्यम्**	= नित्य	**त्वम्**	= तुम्हें
अथ	= अगर (तुम)	**मृतम्**	= मरनेवाला	**एवम्**	= इस प्रकार
एनम्	= इस देहीको	**च**	= भी	**शोचितुम्**	= शोक
नित्यजातम्	= नित्य पैदा होनेवाला	**मन्यसे**	= मानो,	**न**	= नहीं
वा	= अथवा	**तथापि**	= तो भी	**अर्हसि**	= करना चाहिये।

~~~~

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥

हि	= कारण कि	**ध्रुवम्**	= जरूर		नहीं हो सकता।
जातस्य	= पैदा हुएकी	**जन्म**	= जन्म होगा।	**अर्थे**	= (अतः) इस विषयमें
ध्रुवः	= जरूर	**तस्मात्**	= अतः	**त्वम्**	= तुम्हें
मृत्युः	= मृत्यु होगी	**अपरिहार्ये**	= (इस जन्म-मरण-रूप परिवर्तनके प्रवाहका) निवारण	**शोचितुम्**	= शोक
च	= और			**न**	= नहीं
मृतस्य	= मरे हुएका			**अर्हसि**	= करना चाहिये।

विशेष भाव—किसी प्रियजनकी मृत्यु हो जाय, धन नष्ट हो जाय तो मनुष्यको शोक होता है। ऐसे ही भविष्यको लेकर चिन्ता होती है कि अगर स्त्री मर गयी तो क्या होगा? पुत्र मर गया तो क्या होगा? आदि। ये शोक-चिन्ता अपने विवेकको महत्त्व न देनेके कारण ही होते हैं। संसारमें परिवर्तन होना, परिस्थिति बदलना आवश्यक है। अगर परिस्थिति नहीं बदलेगी तो संसार कैसे चलेगा? मनुष्य बालकसे जवान कैसे बनेगा? मूर्खसे विद्वान् कैसे बनेगा? रोगीसे नीरोग कैसे बनेगा? बीजका वृक्ष कैसे बनेगा? परिवर्तनके बिना संसार स्थिर चित्रकी तरह बन
~~~~

जायगा! वास्तवमें मरनेवाला (परिवर्तनशील) ही मरता है, रहनेवाला कभी मरता ही नहीं। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि मृत्यु होनेपर शरीर तो हमारे सामने पड़ा रहता है, पर शरीरका मालिक (जीवात्मा) निकल जाता है। अगर इस अनुभवको महत्त्व दें तो फिर चिन्ता-शोक हो ही नहीं सकते। बालिके मरनेपर भगवान् राम इसी अनुभवकी ओर ताराका लक्ष्य कराते हैं—

तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया॥
छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर माँगी॥

(मानस, किष्किन्धा० ११। २-३)

विचार करना चाहिये कि जब चौरासी लाख योनियोंमें कोई भी शरीर नहीं रहा, तो फिर यह शरीर कैसे रहेगा? जब चौरासी लाख शरीर मैं-मेरे नहीं रहे, तो फिर यह शरीर मैं-मेरा कैसे रहेगा? यह विवेक मनुष्य-शरीरमें हो सकता है, अन्य शरीरोंमें नहीं।

~~~

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥

भारत	=हे भारत!	**अव्यक्तनिधनानि**	=मरनेके बाद अप्रकट हो जायँगे,	**तत्र**	=इसमें
भूतानि	=सभी प्राणी	**व्यक्तमध्यानि, एव**	= केवल बीचमें ही प्रकट दीखते हैं। (अतः)	**परिदेवना**	=शोक करनेकी
अव्यक्तादीनि	=जन्मसे पहले अप्रकट थे (और)			**का**	=बात ही क्या है?

विशेष भाव—जो आदि और अन्तमें नहीं है, उसका 'नहीं'-पना नित्य-निरन्तर है तथा जो आदि और अन्तमें है, उसका 'है'-पना नित्य-निरन्तर है*। जिसका 'नहीं'-पना नित्य-निरन्तर है, वह 'असत्' (शरीर) है और जिसका 'है'-पना नित्य-निरन्तर है, वह 'सत्' (शरीरी) है। असत्‌के साथ हमारा नित्यवियोग है और सत्‌के साथ हमारा नित्ययोग है।

~~~

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

---

* (१) **यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्।** (श्रीमद्भा० ११। २४। १७)

'जिसके आदि और अन्तमें जो है, वही बीचमें भी है और वही सत्य है।'

(२) **आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये॥** (श्रीमद्भा० ११। २८। १८)

'इस संसारके आदिमें जो था तथा अन्तमें जो रहेगा, जो इसका मूल कारण और प्रकाशक है, वही परमात्मा बीचमें भी है।'

(३) **न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।** (श्रीमद्भा० ११। २८। २१)

'जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था और प्रलयके बाद भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि बीचमें भी वह है नहीं, केवल कल्पनामात्र, नाममात्र ही है।'

कश्चित्	= कोई	**आश्चर्यवत्**	= (इसका) आश्चर्यकी तरह	**शृणोति**	= सुनता है
एनम्	= इस शरीरीको	**वदति**	= वर्णन करता है	**च**	= और
आश्चर्यवत्	= आश्चर्यकी तरह	**च**	= तथा	**एनम्**	= इसको
पश्यति	= देखता (अनुभव करता) है	**अन्यः**	= अन्य (कोई)	**श्रुत्वा**	= सुनकर
च	= और	**एनम्**	= इसको	**अपि**	= भी
तथा	= वैसे	**आश्चर्यवत्**	= आश्चर्यकी तरह	**कश्चित्, एव**	= कोई
एव	= ही			**न**	= नहीं
अन्यः	= दूसरा (कोई)			**वेद**	= जानता अर्थात् यह दुर्विज्ञेय है।

विशेष भाव—शरीरीको सुननेमात्रसे अर्थात् अभ्यासके द्वारा नहीं जान सकते, पर जिज्ञासापूर्वक तत्त्वज्ञ, अनुभवी महापुरुषोंसे सुनकर जान सकते हैं—'**यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः**' (गीता ७। ३)। '**आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः**' कहनेका तात्पर्य है कि तत्त्वका अनुभव करनेवालोंमें भी वर्णन करनेवाला कोई एक ही होता है। सब-के-सब अनुभव करनेवाले उसका वर्णन नहीं कर सकते।

जैसे संसारमें सुननेमात्रसे विवाह नहीं होता, प्रत्युत स्त्री और पुरुष एक-दूसरेको पति-पत्नीरूपसे स्वीकार करते हैं, तब विवाह होता है, ऐसे ही सुननेमात्रसे परमात्मतत्त्वको कोई भी नहीं जान सकता, प्रत्युत सुननेके बाद जब स्वयं उसको स्वीकार करेगा अथवा उसमें स्थित होगा, तब स्वयंसे उसको जानेगा। अतः सुननेमात्रसे मनुष्य ज्ञानकी बातें सीख सकता है, दूसरोंको सुना सकता है, लिख सकता है, व्याख्यान दे सकता है, विवेचन कर सकता है, पर अनुभव नहीं कर सकता।

परमात्मतत्त्वको केवल सुननेमात्रसे नहीं जान सकते, प्रत्युत सुनकर उपासना करनेसे जान सकते हैं—'**श्रुत्वान्येभ्य उपासते**..........' (गीता १३। २५)। अगर परमात्मतत्त्वका वर्णन करनेवाला अनुभवी हो और सुननेवाला श्रद्धालु तथा जिज्ञासु हो तो तत्काल भी ज्ञान हो सकता है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	**नित्यम्**	= नित्य ही		प्राणीके लिये
सर्वस्य	= सबके	**अवध्यः**	= अवध्य है।	**त्वम्**	= तुम्हें
देहे	= देहमें	**तस्मात्**	= इसलिये	**शोचितुम्**	= शोक
अयम्	= यह	**सर्वाणि**	= सम्पूर्ण	**न**	= नहीं
देही	= देही	**भूतानि**	= प्राणियोंके लिये अर्थात् किसी भी	**अर्हसि**	= करना चाहिये।

विशेष भाव—भगवान्ने ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक देह-देहीके विवेकका वर्णन किया है। इस प्रकरणमें भगवान्ने ब्रह्म-जीव, प्रकृति-पुरुष, जड़-चेतन, माया-अविद्या, आत्मा-अनात्मा आदि किसी दार्शनिक शब्दका प्रयोग नहीं किया है। इसका कारण यह है कि भगवान् इसको पढ़ाईका अर्थात् सीखनेका विषय न बनाकर अनुभवका विषय बनाना चाहते हैं और यह सिद्ध करना चाहते हैं कि देह-देहीके अलगावका अनुभव मनुष्यमात्र कर सकता है। इसमें कोई पढ़ाई करनेकी, अधिकारी बननेकी जरूरत नहीं है।

सत्-असत्का विवेक मनुष्य अगर अपने शरीरपर करता है तो वह साधक होता है और संसारपर करता है तो विद्वान् होता है। अपनेको अलग रखते हुए संसारमें सत्-असत्का विवेक करनेवाला मनुष्य वाचक (सीखा हुआ) ज्ञानी तो बन जाता है, पर उसको अनुभव नहीं हो सकता। परन्तु अपनी देहमें सत्-असत्का विवेक करनेसे

मनुष्य वास्तविक (अनुभवी) ज्ञानी हो सकता है। तात्पर्य है कि संसारमें सत्-असत्का विवेक केवल पण्डिताईके लिये है, जबकि गीता पण्डिताईके लिये नहीं है। इसलिये भगवान्ने दार्शनिक शब्दोंका प्रयोग न करके देह-देही, शरीर-शरीरी जैसे सामान्य शब्दोंका प्रयोग किया है। जो संसारमें सत्-असत्का विचार करते हैं, वे अपनेको अलग रखते हुए अपनेको ज्ञानका अधिकारी बनाते हैं। परन्तु अपनेमें देह-देहीका विचार करनेमें मनुष्यमात्र ज्ञानप्राप्तिका अधिकारी है। अनुभव करनेके लिये देह-देहीका विवेचन उपयोगी है और सीखनेके लिये तत्त्वका विवेचन उपयोगी है। इसलिये साधक अनुभव करना चाहता है तो सबसे पहले उसको शरीरसे अपने अलगावका अनुभव करना चाहिये कि शरीर शरीरीके सम्बन्धसे रहित है और शरीरी शरीरके सम्बन्धसे रहित है अर्थात् 'मैं शरीर नहीं हूँ'। उसने जितनी सच्चाईसे, दृढ़तासे, विश्वाससे और निःसन्देहतासे शरीरकी सत्ता-महत्ता मानी है, उतनी ही सच्चाईसे, दृढ़तासे, विश्वाससे और निःसन्देहतासे स्वयं (स्वरूप) की सत्ता-महत्ता मान ले और अनुभव कर ले।

शरीर केवल कर्म करनेका साधन है और कर्म केवल संसारके लिये ही होता है। जैसे कोई लेखक जब लिखने बैठता है, तब वह लेखनीको ग्रहण करता है और जब लिखना बन्द करता है, तब लेखनीको यथास्थान रख देता है, ऐसे ही साधकको कर्म करते समय शरीरको स्वीकार करना चाहिये और कर्म समाप्त होते ही शरीरको ज्यों-का-त्यों रख देना चाहिये—उससे असंग हो जाना चाहिये। कारण कि अगर हम कुछ भी न करें तो शरीरकी क्या जरूरत है?

साधकके लिये खास बात है—जाने हुए असत्का त्याग। साधक जिसको असत् जानता है, उसका वह त्याग कर दे तो उसका साधन सहज, सुगम हो जायगा और जल्दी सिद्ध हो जायगा। साधककी अपने साध्यमें जो प्रियता है, वही साधन कहलाती है। वह प्रियता किसी वस्तु, व्यक्ति, योग्यता, सामर्थ्य आदिके द्वारा अथवा किसी अभ्यासके द्वारा प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत साध्यमें अपनापन होनेसे प्राप्त होती है। साधक जिसको अपना मान लेता है, उसमें उसकी प्रियता स्वतः हो जाती है। परन्तु वास्तविक अपनापन उस वस्तुसे होता है, जिसमें ये चार बातें हों—

(१) जिससे हमारी सधर्मता अर्थात् स्वरूपगत एकता हो।

(२) जिसके साथ हमारा सम्बन्ध नित्य रहनेवाला हो।

(३) जिससे हम कभी कुछ न चाहें।

(४) हमारे पास जो कुछ है, वह सब जिसको समर्पित कर दें।

ये चारों बातें भगवान्में ही लग सकती हैं। कारण कि शरीर और संसारसे हमारा सम्बन्ध नित्य रहनेवाला नहीं है और उनसे हमारी स्वरूपगत एकता भी नहीं है। प्रतिक्षण बदलनेवालेके साथ कभी न बदलनेवालेकी एकता कैसे हो सकती है? शरीरके साथ हमारी जो एकता दीखती है, वह वास्तविक नहीं है, प्रत्युत मानी हुई है। मानी हुई एकता कर्तव्यका पालन करनेके लिये है। तात्पर्य है कि जिसके साथ हमारी मानी हुई एकता है, उसकी सेवा तो हो सकती है, पर उसके साथ अपनापन नहीं हो सकता।

जाने हुए असत्का त्याग करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग करे। जिसके साथ हमारा न तो नित्य सम्बन्ध है और न स्वरूपगत एकता ही है, उसको अपना और अपने लिये मानना विवेकविरोधी सम्बन्ध है। इस दृष्टिसे शरीरको अपना और अपने लिये मानना विवेकविरोधी है। विवेकविरोधी सम्बन्धके रहते हुए कोई भी साधन सिद्ध नहीं हो सकता। शरीरके साथ सम्बन्ध रखते हुए कोई कितना ही तप कर ले, समाधि लगा ले, लोक-लोकान्तरोंमें घूम आये, तो भी उसके मोहका नाश तथा सत्य तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग होते ही मोहका नाश हो जाता है तथा सत्य तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग किये बिना साधकको चैनसे नहीं बैठना चाहिये। अगर हम शरीरसे माने हुए विवेकविरोधी सम्बन्धका त्याग न करें तो भी शरीर हमारा त्याग कर ही देगा! जो हमारा त्याग अवश्य करेगा, उसका त्याग करनेमें क्या कठिनाई है? इसलिये किसी भी मार्गका कोई भी साधक क्यों न हो, उसे इस सत्यको स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शरीर मैं नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है और शरीर मेरे लिये नहीं है।

जबतक साधकका शरीरके साथ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध रहता है, तबतक साधन करते हुए भी सिद्धि नहीं होती और वह शुभ कर्मोंसे, सार्थक चिन्तनसे और स्थितिकी आसक्तिसे बँधा रहता है। वह यज्ञ, तप, दान आदि बड़े-बड़े शुभ कर्म करे, आत्माका अथवा परमात्माका चिन्तन करे अथवा समाधिमें भी स्थित हो जाय तो भी उसका बन्धन सर्वथा मिटता नहीं। कारण कि शरीरके साथ सम्बन्ध मानना ही मूल बन्धन है, मूल दोष है, जिससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है। अगर साधकका शरीरसे माना हुआ सम्बन्ध सर्वथा मिट जाय तो उसके द्वारा अशुभ कर्म तो होंगे ही नहीं, शुभ कर्मोंमें भी आसक्ति नहीं रहेगी। उसके द्वारा निरर्थक चिन्तन तो होगा ही नहीं, सार्थक चिन्तनमें भी आसक्ति नहीं रहेगी। उसमें चंचलता तो रहेगी ही नहीं, समाधिमें, स्थिरतामें अथवा निर्विकल्प स्थितिमें भी आसक्ति नहीं रहेगी। इस प्रकार स्थूलशरीरसे होनेवाले कर्ममें, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाले चिन्तनमें और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरतामें आसक्तिका नाश हो जानेपर उसका साधन सिद्ध हो जायगा अर्थात् मोह नष्ट हो जायगा और सत्य तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। इसलिये भगवान्‌ने अपने उपदेशके आरम्भमें शरीरका सम्बन्ध सर्वथा मिटानेके लिये शरीर-शरीरीके विवेकका वर्णन किया है।

~~~

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१॥

च	= और		विचलित	**क्षत्रियस्य**	= क्षत्रियके लिये
स्वधर्मम्	= अपने क्षात्रधर्मको	**न**	= नहीं	**अन्यत्**	= दूसरा कोई
अवेक्ष्य	= देखकर	**अर्हसि**	= होना चाहिये;	**श्रेयः**	= कल्याणकारक कर्म
अपि	= भी (तुम्हें)	**हि**	= क्योंकि		
विकम्पितुम्	= विकम्पित अर्थात् कर्तव्य-कर्मसे	**धर्म्यात्**	= धर्ममय	**न**	= नहीं
		युद्धात्	= युद्धसे बढ़कर	**विद्यते**	= है।

विशेष भाव—देह-देहीके विवेकका वर्णन करनेके बाद अब भगवान् यहाँसे अड़तीसवें श्लोकतक देहीके स्वधर्मपालन (कर्तव्यपालन) का वर्णन करते हैं। कारण कि देह-देहीके विवेकसे जो तत्त्व मिलता है, वही तत्त्व देहके सदुपयोगसे, स्वधर्मके पालनसे भी मिल सकता है। विवेकमें 'जानना' मुख्य है और स्वधर्मपालनमें 'करना' मुख्य है। यद्यपि मनुष्यके लिये विवेक मुख्य है, जो व्यवहार और परमार्थमें, लोक और परलोकमें सब जगह काम आता है। परन्तु जो मनुष्य देह-देहीके विवेकको न समझ सके, उसके लिये भगवान् स्वधर्म-पालनकी बात कहते हैं, जिससे वह कोरा वाचक ज्ञानी न बनकर वास्तविक तत्त्वका अनुभव कर सके।

तात्पर्य है कि जो मनुष्य परमात्मतत्त्वको जानना चाहता है, पर तीक्ष्ण बुद्धि और तेजीका वैराग्य न होनेके कारण ज्ञानयोगसे नहीं जान सका तो वह कर्मयोगसे परमात्मतत्त्वको जान सकता है; क्योंकि ज्ञानयोगसे जो अनुभव होता है, वही कर्मयोगसे भी हो सकता है (गीता ५। ४-५)।

अर्जुन क्षत्रिय थे, इसलिये भगवान्‌ने इस प्रकरणमें क्षात्रधर्मकी बात कही है। वास्तवमें यहाँ क्षात्रधर्म चारों वर्णोंका उपलक्षण है। इसलिये ब्राह्मणादि अन्य वर्णोंको भी यहाँ अपना-अपना धर्म (कर्तव्य) समझ लेना चाहिये (गीता १८। ४२—४४)।

['स्वधर्म' को ही स्वभावज कर्म, सहज कर्म, स्वकर्म आदि नामोंसे कहा गया है (गीता १८। ४१—४८)। स्वार्थ, अभिमान और फलेच्छाका त्याग करके दूसरेके हितके लिये कर्म करना स्वधर्म है। स्वधर्मका पालन ही कर्मयोग है।]

~~~

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥

यदृच्छया	= अपने-आप	**च**	= भी है।		(भाग्यशाली) हैं,
उपपन्नम्	= प्राप्त हुआ (युद्ध)	**पार्थ**	= हे पृथानन्दन!	**ईदृशम्**	= (जिनको) ऐसा
अपावृतम्	= खुला हुआ	**क्षत्रियाः**	= (वे) क्षत्रिय	**युद्धम्**	= युद्ध
स्वर्गद्वारम्	= स्वर्गका दरवाजा	**सुखिनः**	= बड़े सुखी	**लभन्ते**	= प्राप्त होता है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ ३३॥

अथ	= अब	**सङ्ग्रामम्**	= युद्ध	**च**	= और
चेत्	= अगर	**न**	= नहीं	**कीर्तिम्**	= कीर्तिका
त्वम्	= तू	**करिष्यसि**	= करेगा	**हित्वा**	= त्याग करके
इमम्	= यह	**ततः**	= तो	**पापम्**	= पापको
धर्म्यम्	= धर्ममय	**स्वधर्मम्**	= अपने धर्म	**अवाप्स्यसि**	= प्राप्त होगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ ३४॥

च	= और	**अकीर्तिम्**	= अपकीर्तिका		मनुष्यके लिये
भूतानि	= सब प्राणी	**कथयिष्यन्ति**	= कथन अर्थात्	**मरणात्**	= मृत्युसे
अपि	= भी		निन्दा करेंगे।	**च**	= भी
ते	= तेरी	**अकीर्तिः**	= (वह) अपकीर्ति	**अतिरिच्यते**	= बढ़कर दुःखदायी
अव्ययाम्	= सदा रहनेवाली	**सम्भावितस्य**	= सम्मानित		होती है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ ३५॥

च	= तथा	**उपरतम्**	= हटा हुआ	**बहुमतः**	= बहुमान्य
महारथाः	= महारथीलोग	**मंस्यन्ते**	= मानेंगे।	**भूत्वा**	= हो चुका है,
त्वाम्	= तुझे	**येषाम्**	= जिनकी		(उनकी दृष्टिमें)
भयात्	= भयके कारण		(धारणामें)	**लाघवम्**	= (तू) लघुताको
रणात्	= युद्धसे	**त्वम्**	= तू	**यास्यसि**	= प्राप्त हो जायगा।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३६॥

तव	=तेरे		हुए	**वदिष्यन्ति**	=कहेंगे।
अहिताः	=शत्रुलोग	**बहून्**	=बहुत-से	**ततः**	=उससे
तव	=तेरी	**अवाच्यवादान्**	=न कहनेयोग्य	**दुःखतरम्**	=बढ़कर और
सामर्थ्यम्	=सामर्थ्यकी		वचन		दुःखकी बात
निन्दन्तः	=निन्दा करते	**च**	=भी	**नु, किम्**	=क्या होगी?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥

वा	=अगर (युद्धमें तू)	**जित्वा**	=जीत जायगा	**कौन्तेय**	=हे कुन्तीनन्दन!
हतः	=मारा जायगा (तो)		(तो)		(तू)
स्वर्गम्	=(तुझे) स्वर्गकी	**महीम्**	=पृथ्वीका राज्य	**युद्धाय**	=युद्धके लिये
प्राप्स्यसि	=प्राप्ति होगी (और)	**भोक्ष्यसे**	=भोगेगा।	**कृतनिश्चयः**	=निश्चय करके
वा	=अगर (युद्धमें तू)	**तस्मात्**	=अतः	**उत्तिष्ठ**	=खड़ा हो जा।

विशेष भाव—धर्मका पालन करनेसे लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं। तात्पर्य है कि कर्तव्यका पालन और अकर्तव्यका त्याग करनेसे लोकको भी सिद्धि हो जाती है और परलोकको भी।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

जयाजयौ	=जय-पराजय,	**कृत्वा**	=करके	**एवम्**	=इस प्रकार
लाभालाभौ	=लाभ-हानि (और)	**ततः**	=फिर		(युद्ध करनेसे)
सुखदुःखे	=सुख-दुःखको	**युद्धाय**	=युद्धमें	**पापम्**	=(तू) पापको
समे	=समान	**युज्यस्व**	=लग जा।	**न, अवाप्स्यसि**	=प्राप्त नहीं होगा।

विशेष भाव—गीता व्यवहारमें परमार्थकी विलक्षण कला बताती है, जिससे मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें रहते हुए तथा शास्त्रविहित सब तरहका व्यवहार करते हुए भी अपना कल्याण कर सके। अन्य ग्रन्थ तो प्रायः यह कहते हैं कि अगर अपना कल्याण चाहते हो तो सब कुछ त्यागकर साधु हो जाओ, एकान्तमें चले जाओ; क्योंकि व्यवहार और परमार्थ—दोनों एक साथ नहीं चल सकते। परन्तु गीता कहती है कि आप जहाँ हैं, जिस मतको मानते हैं, जिस सिद्धान्तको मानते हैं, जिस धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण, आश्रम आदिको मानते हैं, उसीको मानते हुए गीताके अनुसार चलो तो कल्याण हो जायगा। एकान्तमें रहकर वर्षोंतक साधना करनेपर ऋषि-मुनियोंको जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती थी, उसी तत्त्वकी प्राप्ति गीताके अनुसार व्यवहार करते हुए हो जायगी। सिद्धि-असिद्धिमें सम रहकर निष्कामभावपूर्वक कर्तव्यकर्म करना ही गीताके अनुसार व्यवहार करना है।

युद्धसे बढ़कर घोर परिस्थिति तथा प्रवृत्ति और क्या होगी? जब युद्ध-जैसी घोर परिस्थिति और प्रवृत्तिमें भी मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है, तो फिर ऐसी कौन-सी परिस्थिति तथा प्रवृत्ति होगी, जिसमें रहते हुए मनुष्य अपना कल्याण न कर सके? गीताके अनुसार एकान्तमें आसन लगाकर ध्यान करनेसे भी कल्याण हो सकता है

(गीता ६। १०—१३) और युद्ध करनेसे भी कल्याण हो सकता है!

अर्जुन न तो स्वर्ग चाहते थे और न राज्य चाहते थे (गीता १। ३२, ३५; २। ८)। वे केवल युद्धसे होनेवाले पापसे बचना चाहते थे (गीता १। ३६, ३९, ४५)। इसलिये भगवान् मानो यह कहते हैं कि अगर तू स्वर्ग और राज्य नहीं चाहता, पर पापसे बचना चाहता है तो युद्धरूप कर्तव्यको समतापूर्वक कर, फिर तुझे पाप नहीं लगेगा—**'नैवं पापमवाप्स्यसि'।** कारण कि पाप लगनेमें हेतु युद्ध नहीं है, प्रत्युत विषमता (पक्षपात), कामना, स्वार्थ, अहंकार है। युद्ध तो तेरा कर्तव्य (धर्म) है। कर्तव्य न करनेसे और अकर्तव्य करनेसे ही पाप लगता है।

पूर्व श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनसे मानो यह कहा कि अगर तू राज्य तथा स्वर्गकी प्राप्ति चाहे तो भी तेरे लिये कर्तव्यका पालन करना ही उचित है, और इस श्लोकमें मानो यह कहते हैं कि अगर तू राज्य तथा स्वर्गकी प्राप्ति न चाहे तो भी तेरे लिये समतापूर्वक कर्तव्यका पालन करना ही उचित है। तात्पर्य है कि अपने कर्तव्यका त्याग किसी भी स्थितिमें उचित नहीं है।

~~~

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ ३९॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**अभिहिता**	=कही गयी	**यया**	=जिस
एषा	=यह	**तु**	=और (अब तू)	**बुद्ध्या**	=समबुद्धिसे
बुद्धिः	=समबुद्धि	**इमाम्**	=इसको	**युक्तः**	=युक्त हुआ (तू)
ते	=तेरे लिये (पहले)	**योगे**	=कर्मयोगके विषयमें	**कर्मबन्धम्**	=कर्म-बन्धनका
साङ्ख्ये	=सांख्ययोगमें	**शृणु**	=सुन;	**प्रहास्यसि**	=त्याग कर देगा।

विशेष भाव—कर्मयोगके दो विभाग हैं—कर्तव्यविज्ञान और योगविज्ञान। भगवान्ने इकतीसवेंसे सैंतीसवें श्लोकतक कर्तव्यविज्ञानकी बात कही है, जिसमें कर्तव्य-कर्म करनेसे लाभ और न करनेसे हानिका वर्णन किया। अब यहाँसे तिरपनवें श्लोकतक योग-विज्ञानकी बात कहते हैं।

पूर्व श्लोकमें भगवान्ने जिस समताकी बात कही है, वह सांख्ययोग और कर्मयोग—दोनों साधनोंसे प्राप्त हो सकती है। शरीर और शरीरीके विभागको जानकर शरीर-विभागसे सम्बन्ध-विच्छेद करना 'सांख्ययोग' है तथा कर्तव्य और अकर्तव्यके विभागको जानकर अकर्तव्य-विभागका त्याग और कर्तव्यका पालन करना 'कर्मयोग' है। मनुष्यको दोनोंमेंसे किसी भी एक साधनका अनुष्ठान करके इस समताको प्राप्त कर लेना चाहिये। कारण कि समता आनेसे मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

एक धर्मशास्त्र (पूर्वमीमांसा) है और एक मोक्षशास्त्र (उत्तरमीमांसा) है। यहाँ इकतीसवेंसे सैंतीसवें श्लोकतक धर्मशास्त्रकी और उन्तालीसवेंसे तिरपनवें श्लोकतक मोक्षशास्त्रकी बात आयी है। धर्मसे लौकिक और पारमार्थिक—दोनों तरहकी उन्नति होती है*। धर्मशास्त्रमें कर्तव्य-पालन मुख्य है। धर्म कहो चाहे कर्तव्य कहो, एक ही बात है।

जो करना चाहिये, उसको न करना भी अकर्तव्य है और जो नहीं करना चाहिये, उसको करना भी अकर्तव्य है। जिसमें अपने सुखकी इच्छाका त्याग करके दूसरेको सुख पहुँचाया जाय और जिसमें अपना भी हित हो तथा दूसरेका भी हित हो, वह 'कर्तव्य' कहलाता है। कर्तव्यका पालन करनेसे 'योग' की प्राप्ति अपने-आप हो जाती है। कर्तव्यका पालन किये बिना मनुष्य योगारूढ़ नहीं हो सकता (गीता ६। ३)। योगकी प्राप्ति होनेपर तत्त्वज्ञान स्वतः हो जाता है, जो कर्मयोग तथा ज्ञानयोग—दोनोंका परिणाम है (गीता ५। ४-५)।

~~~

* **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** (वैशेषिक० १। ३)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥

इह	= मनुष्यलोकमें		अनुष्ठानका)	**अपि**	= भी (अनुष्ठान)
अस्य	= इस समबुद्धिरूप	**प्रत्यवायः**	= उल्टा फल (भी)	**महतः**	= (जन्म-मरणरूप) महान्
धर्मस्य	= धर्मके	**न**	= नहीं		
अभिक्रमनाशः	= आरम्भका नाश	**विद्यते**	= होता (और इसका)	**भयात्**	= भयसे
न	= नहीं			**त्रायते**	= रक्षा कर लेता है।
अस्ति	= होता (तथा इसके	**स्वल्पम्**	= थोड़ा-सा		

विशेष भाव—समताकी महिमा भगवान्‌ने उन्तालीसवें-चालीसवें श्लोकोंमें चार प्रकारसे कही है—

(१) **'कर्मबन्धं प्रहास्यसि'**—समताके द्वारा मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

(२) **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'**—इसके आरम्भका भी नाश नहीं होता।

(३) **'प्रत्यवायो न विद्यते'**—इसके अनुष्ठानका उल्टा फल भी नहीं होता।

(४) **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'**—इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।

यद्यपि पहली बातके अन्तर्गत ही शेष तीनों बातें आ जाती हैं, तथापि सबमें थोड़ा अन्तर है; जैसे—

(१) भगवान् पहले सामान्य रीतिसे कहते हैं कि समतासे युक्त मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट जाता है। बन्धनका कारण गुणोंका संग अर्थात् प्रकृति और उसके कार्यसे माना हुआ सम्बन्ध है (गीता १३। २१)। समता आनेसे प्रकृति और उसके कार्यसे सम्बन्ध नहीं रहता; अतः मनुष्य कर्म-बन्धनसे छूट जाता है। जैसे संसारमें अनेक शुभाशुभ कर्म होते रहते हैं, पर वे कर्म हमें बाँधते नहीं; क्योंकि उन कर्मोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता, ऐसे ही समतायुक्त मनुष्यका इस शरीरसे होनेवाले कर्मोंसे भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

(२) समताका केवल आरम्भ हो जाय अर्थात् समताको प्राप्त करनेका उद्देश्य, जिज्ञासा हो जाय तो इस आरम्भका कभी नाश नहीं होता। कारण कि अविनाशीका उद्देश्य भी अविनाशी ही होता है, जबकि नाशवान्‌का उद्देश्य भी नाशवान् ही होता है। नाशवान्‌का उद्देश्य तो नाश (पतन) करता है, पर समताका उद्देश्य कल्याण ही करता है—**'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते'** (गीता ६। ४४)।

(३) समताके अनुष्ठानका उल्टा फल नहीं होता। सकामभावसे किये जानेवाले कर्ममें अगर मन्त्रोच्चारण, अनुष्ठान-विधि आदिकी कोई त्रुटि हो जाय तो उसका उल्टा फल हो जाता है*। परन्तु जितनी समता अनुष्ठानमें, जीवनमें आ गयी है, उसमें अगर व्यवहार आदिकी कोई भूल हो जाय, सावधानीमें कोई कमी रह जाय तो उसका

* ऐसी कथा आती है कि त्वष्टाने इन्द्रका वध करनेवाले पुत्रकी इच्छासे एक यज्ञ किया। उस यज्ञमें ऋषियोंने **'इन्द्रशत्रुं विवर्धस्व'** इस मन्त्रके साथ हवन किया। 'इन्द्रशत्रु' शब्दमें यदि षष्ठीतत्पुरुष समास हो तो इसका अर्थ होगा—**'इन्द्रस्य शत्रुः'** (इन्द्रका शत्रु) और यदि बहुव्रीहि समास हो तो इसका अर्थ होगा—**'इन्द्रः शत्रुर्यस्य'** (जिसका शत्रु इन्द्र है)। समासमें भेद होनेसे स्वरमें भी भेद हो जाता है। अतः षष्ठीतत्पुरुष समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका उच्चारण अन्त्योदात्त होगा अर्थात् अन्तिम अक्षर **'त्रु'** का उच्चारण उदात्त स्वरसे होगा; और बहुव्रीहि समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका उच्चारण आद्योदात्त होगा अर्थात् प्रथम अक्षर **'इ'** का उच्चारण उदात्त स्वरसे होगा। ऋषियोंका उद्देश्य तो षष्ठीतत्पुरुष समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका अन्त्योदात्त उच्चारण करना था, पर उन्होंने उसका आद्योदात्त उच्चारण कर दिया। इस प्रकार स्वरभेद हो जानेसे मन्त्रोच्चारणका फल उल्टा हो गया, जिससे इन्द्र ही त्वष्टाके पुत्र (वृत्रासुर) का वध करनेवाला हो गया! इसलिये कहा गया है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

(पाणिनीयशिक्षा)

उल्टा फल (बन्धन) नहीं होता। जैसे, कोई हमारे यहाँ नौकरी करता हो और अँधेरेमें लालटेन जलाते समय कभी उसके हाथसे लालटेन गिरकर टूट जाय तो हम उसपर नाराज होते हैं। परन्तु उस समय जो हमारा मित्र हो, जो हमारेसे कभी कुछ चाहता नहीं, उसके हाथसे लालटेन गिरकर टूट जाय तो हम उसपर नाराज नहीं होते, प्रत्युत कहते हैं कि हमारे हाथसे भी तो वस्तु टूट जाती है, तुम्हारे हाथसे टूट गयी तो क्या हुआ? कोई बात नहीं। अतः जो सकामभावसे कर्म करता है, उसके कर्मका तो उल्टा फल हो सकता है, पर जो किसी प्रकारका फल चाहता ही नहीं, उसके अनुष्ठानका उल्टा फल कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

(४) समताका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान हो जाय, थोड़ा-सा भी समताका भाव बन जाय तो वह जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है अर्थात् कल्याण कर देता है। जैसे सकाम कर्म फल देकर नष्ट हो जाता है, ऐसे यह थोड़ी-सी भी समता फल देकर नष्ट नहीं होती, प्रत्युत इसका उपयोग केवल कल्याणमें ही होता है। यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्म यदि सकामभावसे किये जायँ तो उनका नाशवान् फल (धन-सम्पत्ति एवं स्वर्गादिकी प्राप्ति) होता है और यदि निष्कामभावसे किये जायँ तो उनका अविनाशी फल (मोक्ष) होता है। इस प्रकार यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मोंके तो दो-दो फल हो सकते हैं, पर समताका एक ही फल—कल्याण होता है। जैसे कोई मुसाफिर चलते-चलते रास्तेमें रुक जाय अथवा सो जाय तो वह जहाँसे चला था, वहाँ पुनः लौटकर नहीं चला जाता, प्रत्युत जहाँतक वह पहुँच गया, वहाँतकका रास्ता तो कट ही गया। ऐसे ही जितनी समता जीवनमें आ गयी, उसका नाश कभी नहीं होता।

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'—निष्कामभाव थोड़ा होते हुए भी सत्य है और भय महान् होते हुए भी असत्य है। जैसे मनभर रुई हो तो उसको जलानेके लिये मनभर अग्निकी जरूरत नहीं है। रुई एक मन हो या सौ मन, उसको जलानेके लिये एक दियासलाई पर्याप्त है। एक दियासलाई लगाते ही वह रुई खुद दियासलाई अर्थात् अग्नि बन जायगी। रुई खुद दियासलाईकी मदद करेगी। अग्नि रुईके साथ नहीं होगी, प्रत्युत रुई खुद ज्वलनशील होनेके कारण अग्निके साथ हो जायगी। इसी तरह असंगता आग है और संसार रुई है। संसारसे असंग होते ही संसार अपने-आप नष्ट हो जायगा; क्योंकि मूलमें संसारकी सत्ता न होनेसे उससे कभी संग हुआ ही नहीं।

थोड़े-से-थोड़ा त्याग भी सत् है और बड़ी-से-बड़ी क्रिया भी असत् है। क्रियाका तो अन्त होता है, पर त्याग अनन्त होता है। इसलिये यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाएँ तो फल देकर नष्ट हो जाती हैं (गीता ८। २८), पर त्याग कभी नष्ट नहीं होता—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)। एक अहम्‌के त्यागसे अनन्त सृष्टिका त्याग हो जाता है; क्योंकि अहम्‌ने ही सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रखा है (गीता ७। ५)।

जैसे, कितनी ही घास हो, क्या अग्निके सामने टिक सकती है? कितना ही अँधेरा हो, क्या प्रकाशके सामने टिक सकता है? अँधेरे और प्रकाशमें लड़ाई हो जाय तो क्या अँधेरा जीत जायगा? ऐसे ही अज्ञान और ज्ञानकी लड़ाई हो जाय तो क्या अज्ञान जीत जायगा? महान्-से-महान् भय क्या अभयके सामने टिक सकता है? समता थोड़ी हो तो भी पूरी है और भय महान् हो तो भी अधूरा है। स्वल्प समता भी महान् है; क्योंकि वह सच्ची है और महान् भय भी स्वल्प (सत्ताहीन) है; क्योंकि वह कच्चा है।

समताको, निष्कामभावको 'स्वल्प' कहनेका क्या तात्पर्य है? निष्कामभाव तो महान् है, पर हमारी समझमें, हमारे अनुभवमें थोड़ा आनेसे उसको स्वल्प कह दिया है। वास्तवमें समझ थोड़ी हुई, समता थोड़ी नहीं हुई। उधर हमारी दृष्टि कम गयी है तो हमारी दृष्टिमें कमी है, तत्त्वमें कमी नहीं है। इसी तरह हमने असत्‌को ज्यादा आदर दे दिया तो असत् महान् नहीं हुआ, प्रत्युत हमारा आदर महान् हुआ। इसलिये अगर हम सत्‌का अधिक आदर करें तो सत् महान् हो जायगा अर्थात् उसकी महत्ताका अनुभव हो जायगा, और असत्‌का आदर न करें तो असत् स्वल्प हो जायगा। वास्तवमें असत् महान् हो या स्वल्प, उसकी सत्ता ही नहीं है—**'नासतो विद्यते भावः'** और सत् महान् हो या स्वल्प, उसकी सत्ता नित्य-निरन्तर विद्यमान है—**'नाभावो विद्यते सतः'**। इसलिये उपनिषदोंमें परमात्मतत्त्वको अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् कहा गया है—**'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** (कठ० १। २। २०; श्वेताश्वतर० ३। २०)।

~~~
~~~

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥

कुरुनन्दन	=हे कुरुनन्दन!	**एका**	=एक ही (होती है)।	**अनन्ताः**	=अनन्त
इह	=इस (समबुद्धिकी प्राप्ति) के विषयमें	**अव्यवसायिनाम्**	=जिनका एक निश्चय नहीं है, ऐसे मनुष्योंकी	**च**	=और
व्यवसायात्मिका	= निश्चयवाली			**बहुशाखा**	=बहुत शाखाओंवाली
बुद्धिः	=बुद्धि	**बुद्धयः**	=बुद्धियाँ	**हि**	=ही (होती हैं)।

विशेष भाव—वास्तविक उद्देश्य एक ही होता है। जबतक मनुष्यका एक उद्देश्य नहीं होता, तबतक उसके अनन्त उद्देश्य रहते हैं और एक-एक उद्देश्यकी अनेक शाखाएँ होती हैं। उसकी अनन्त कामनाएँ होती हैं और एक-एक कामनाकी पूर्तिके लिये उपाय भी अनेक होते हैं।

~~~

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥

पार्थ	=हे पृथानन्दन!	**न, अस्ति**	=है ही नहीं—	**जन्मकर्म-फलप्रदाम्**	=जन्मरूपी कर्म-फलको देनेवाली है (तथा)
कामात्मानः	=जो कामनाओंमें तन्मय हो रहे हैं,	**इति**	=ऐसा	**भोगैश्वर्यगतिम्, प्रति**	=भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये
स्वर्गपराः	=स्वर्गको ही श्रेष्ठ माननेवाले हैं,	**वादिनः**	=कहनेवाले हैं,	**क्रियाविशेष-बहुलाम्**	=बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है।
वेदवादरताः	=वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंमें प्रीति रखनेवाले हैं,	**अविपश्चितः**	=(वे) अविवेकी मनुष्य		
अन्यत्	=(भोगोंके सिवाय) और कुछ	**इमाम्**	=इस प्रकारकी		
		याम्	=जिस		
		पुष्पिताम्	=पुष्पित (दिखाऊ शोभायुक्त)		
		वाचम्	=वाणीको		
		प्रवदन्ति	=कहा करते हैं, (जो कि)		

~~~

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥

तया	= उस पुष्पित वाणीसे		खिंच गया है (और जो)	**समाधौ**	= परमात्मामें
अपहृतचेतसाम्	= जिसका अन्तः-करण हर लिया गया है अर्थात् भोगोंकी तरफ	**भोगैश्वर्य-प्रसक्तानाम्**	=भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, (उन मनुष्योंकी)	**व्यवसायात्मिका**	= एक निश्चयवाली
				बुद्धिः	= बुद्धि
				न	= नहीं
				विधीयते	= होती।

विशेष भाव—अपने कल्याणमें अगर कोई बाधा है तो वह है—भोग और ऐश्वर्य (संग्रह) की इच्छा। जैसे जालमें फँसी हुई मछली आगे नहीं बढ़ सकती, ऐसे ही भोग और संग्रहमें फँसे हुए मनुष्यकी दृष्टि परमात्माकी तरफ बढ़ ही नहीं सकती। इतना ही नहीं, भोग और संग्रहमें आसक्त मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकता।

जो संसारको सच्चा मानता है, उसके लिये कर्मयोग शीघ्र सिद्धि देनेवाला है। कर्मयोगी अपने कर्तव्य कर्मोंके द्वारा संसारकी सेवा करता है अर्थात् प्रत्येक कर्म निष्कामभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये ही करता है। वह दूसरोंके सुखसे प्रसन्न (सुखी) और दूसरोंके दु:खसे करुणित (दु:खी) होता है। दूसरोंको सुखी देखकर प्रसन्न होनेसे उसमें 'भोग' की इच्छा नहीं रहती और दूसरोंको दु:खी देखकर करुणित होनेसे उसमें 'संग्रह' की इच्छा नहीं रहती*।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

वेदाः	= वेद
त्रैगुण्यविषयाः	= तीनों गुणोंके कार्यका ही वर्णन करनेवाले हैं;
अर्जुन	= हे अर्जुन! (तू)
निस्त्रैगुण्यः	= तीनों गुणोंसे रहित
भव	= हो जा,
निर्द्वन्द्वः	= राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित (हो जा),
नित्यसत्त्वस्थः	= (निरन्तर) नित्य वस्तु परमात्मामें स्थित (हो जा),
निर्योगक्षेमः	= योगक्षेमकी चाहना भी मत रख (और)
आत्मवान्	= परमात्मपरायण (हो जा)।

विशेष भाव—'निर्द्वन्द्वः'—वास्तवमें जड़-चेतन, सत्-असत्, नित्य-अनित्य, नाशवान्-अविनाशी आदिका भेद भी द्वन्द्व है। योग और क्षेमकी चाहना भी द्वन्द्व है। द्वन्द्व होनेसे 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस वास्तविकताका अनुभव नहीं होता। कारण कि जब सब कुछ भगवान् ही हैं, तो फिर जड़-चेतन आदिका द्वन्द्व कैसे रह सकता है? इसलिये भगवान्‌ने अमृत और मृत्यु, सत् और असत् दोनोंको अपना स्वरूप बताया है—'**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

सर्वतः	= सब तरफसे
सम्प्लुतोदके	= परिपूर्ण महान् जलाशयके (प्राप्त होनेपर)
उदपाने	= छोटे गड्ढोंमें भरे जलमें (मनुष्यका)
यावान्	= जितना
अर्थः	= प्रयोजन (रहता है) अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता,
विजानतः	= (वेदों और शास्त्रोंको) तत्त्वसे जाननेवाले
ब्राह्मणस्य	= ब्रह्मज्ञानीका
सर्वेषु	= सम्पूर्ण
वेदेषु	= वेदोंमें
तावान्	= उतना (ही प्रयोजन रहता है) अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता।

विशेष भाव—सांसारिक भोगोंका अन्त नहीं है। अनन्त ब्रह्माण्ड हैं और उनमें अनन्त तरहके भोग हैं। परन्तु उनका त्याग कर दें, उनसे असंग हो जायँ तो उनका अन्त आ जाता है। ऐसे ही कामनाएँ भी अनन्त होती हैं।

* वास्तवमें असली सेवा त्यागीके द्वारा ही होती है अर्थात् भोग और संग्रहकी इच्छा सर्वथा मिटनेसे ही असली सेवा होती है, अन्यथा नकली सेवा होती है। परन्तु उद्देश्य असली (सबके हितका) होनेसे नकली सेवा भी असलीमें बदल जाती है।

परन्तु उनका त्याग कर दें, निष्काम हो जायँ तो उनका अन्त आ जाता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥

कर्मणि	=कर्तव्य-कर्म करनेमें	**कदाचन**	=कभी	**ते**	=तेरी
एव	=ही	**मा**	=नहीं। (अतः तू)	**अकर्मणि**	=कर्म न करनेमें (भी)
ते	=तेरा	**कर्मफलहेतुः**	=कर्मफलका हेतु (भी)	**सङ्गः**	=आसक्ति
अधिकारः	=अधिकार है,	**मा**	=मत	**मा**	=न
फलेषु	=फलोंमें	**भूः**	=बन (और)	**अस्तु**	=हो।

विशेष भाव—एक कर्म-विभाग है और एक फल-विभाग है। मनुष्यका कर्म-विभागमें ही अधिकार है, फल-विभागमें नहीं। कारण कि नया पुरुषार्थ होनेसे कर्म-विभाग (करना) मनुष्यके अधीन है और पूर्वकृत कर्मोंका भोग होनेसे फल-विभाग (होना) प्रारब्धके अधीन है। कर्मयोगकी दृष्टिसे देखें तो मनुष्यको जो साधन-सामग्री (वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य) मिली है, वह '**प्रारब्ध**' है और उसका सदुपयोग करना अर्थात् उसको अपना और अपने लिये न मानकर, प्रत्युत दूसरोंका और दूसरोंके लिये मानकर उनकी सेवामें लगाना '**पुरुषार्थ**' है।

कर्मयोगमें मुख्य बात है—अपने कर्तव्यके द्वारा दूसरेके अधिकारकी रक्षा करना और कर्मफलका अर्थात् अपने अधिकारका त्याग करना। दूसरेके अधिकारकी रक्षा करनेसे पुराना राग मिट जाता है और अपने अधिकारका त्याग करनेसे नया राग पैदा नहीं होता। इस प्रकार पुराना राग मिटनेसे और नया राग पैदा न होनेसे कर्मयोगी वीतराग हो जाता है। वीतराग होनेपर उसको तत्त्वज्ञान हो जाता है। कारण कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें नाशवान्, असत् वस्तुओंका राग ही बाधक है—

रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः॥

तात्पर्य है कि वस्तु, व्यक्ति और क्रियामें मनका जो राग, खिंचाव है, यह अज्ञानका खास चिह्न है। जैसे किसी वृक्षके कोटरमें आग लगी हो तो वह वृक्ष हरा-भरा नहीं रहता, सूख जाता है, ऐसे ही जिसके भीतर राग-रूपी आग लगी हो, उसको शान्ति नहीं मिल सकती।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

धनञ्जय	=हे धनंजय! (तू)		असिद्धिमें	**कर्माणि**	=कर्मोंको
सङ्गम्	=आसक्तिका	**समः**	=सम	**कुरु**	=कर; (क्योंकि)
त्यक्त्वा	=त्याग करके	**भूत्वा**	=होकर	**समत्वम्**	=समत्व (ही)
सिद्ध्यसिद्ध्योः	=सिद्धि-	**योगस्थः**	=योगमें स्थित हुआ	**योगः**	=योग
				उच्यते	=कहा जाता है।

विशेष भाव—पातञ्जलयोगदर्शनमें चित्तवृत्तिनिरोध-रूप साधनको 'योग' कहा गया है—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' (१। २)। इस योगके परिणामस्वरूप द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति हो जाती है—'**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**' (१। ३)। इस प्रकार पातञ्जलयोगदर्शनमें योगका जो परिणाम बताया गया है, उसीको गीता 'योग' कहती है—'**समत्वं**

योग उच्यते', 'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्' (६। २३)। तात्पर्य है कि गीता चित्तवृत्तियोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक स्वतःसिद्ध सम-स्वरूपमें स्वाभाविक स्थितिको 'योग' कहती है। इस योग अर्थात् समतामें स्थित होनेपर फिर कभी इससे वियोग अर्थात् व्युत्थान नहीं होता, इसलिये इसको 'नित्ययोग' भी कहते हैं। चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेपर तो 'निर्विकल्प अवस्था' होती है, पर समतामें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव होनेपर 'निर्विकल्प बोध' (सहजावस्था) होता है। निर्विकल्प बोध अवस्था नहीं है, प्रत्युत सम्पूर्ण अवस्थाओंसे अतीत तथा उनका प्रकाशक एवं सम्पूर्ण योग-साधनोंका फल है। अवस्था तो निर्विकल्प और सविकल्प दोनों होती हैं, पर बोध निर्विकल्प ही होता है। इस प्रकार गीताका योग पातञ्जलयोगदर्शनके योगसे बहुत विलक्षण है।

पातञ्जलयोगदर्शनके योगका अधिकारी वह है, जो मूढ़ और क्षिप्त वृत्तिवाला नहीं है, प्रत्युत विक्षिप्त वृत्तिवाला है। परन्तु भगवान्‌की प्राप्ति चाहनेवाले सब-के-सब मनुष्य गीताके योगके अधिकारी हैं। इतना ही नहीं, जो मनुष्य भोग और संग्रहको महत्त्व न देकर इस योगको ही महत्त्व देता है और इसको प्राप्त करना चाहता है—ऐसा योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें वर्णित सकाम कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है—**'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते'** (गीता ६। ४४)।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥

बुद्धियोगात्	=बुद्धियोग (समता) की अपेक्षा	**धनञ्जय**	=हे धनंजय! (तू)	**हि**	=क्योंकि
कर्म	=सकामकर्म	**बुद्धौ**	=बुद्धि (समता) का	**फलहेतवः**	=फलके हेतु बननेवाले
दूरेण	=दूरसे (अत्यन्त) ही	**शरणम्**	=आश्रय	**कृपणाः**	=अत्यन्त दीन हैं।
अवरम्	=निकृष्ट हैं। (अतः)	**अन्विच्छ**	=ले;		

विशेष भाव—योगकी अपेक्षा कर्म दूरसे ही निकृष्ट हैं अर्थात् कल्याणकारक नहीं हैं। जैसे पर्वतसे अणु बहुत दूर है अर्थात् अणुको पर्वतके पास रखकर दोनोंकी तुलना नहीं की जा सकती, ऐसे ही योगसे कर्म बहुत दूर है अर्थात् योग और कर्मकी तुलना नहीं की जा सकती। कर्मोंमें योग ही कुशलता है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'** (गीता २। ५०), इसलिये योगके बिना कर्म निकृष्ट हैं, निरर्थक हैं* और बाधक हैं—**'कर्मणा बध्यते जन्तुः'।**

कर्मयोगमें 'कर्म' करणसापेक्ष है, पर 'योग' करणनिरपेक्ष है। योगकी प्राप्ति कर्मसे नहीं होती, प्रत्युत सेवा, त्यागसे होती है। अतः कर्मयोग कर्म नहीं है। कर्मयोग करणनिरपेक्ष अर्थात् विवेकप्रधान साधन है। अगर सेवा, त्यागकी प्रधानता न हो तो कर्म होगा, कर्मयोग होगा ही नहीं।

समता तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति करानेवाली है, पर सकामकर्म जन्म-मरण देनेवाला है। इसलिये साधकको समताका ही आश्रय लेना चाहिये, समतामें ही स्थित रहना चाहिये। समतामें स्थित होनेसे वह दीन नहीं रहेगा, प्रत्युत कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य हो जायगा। परन्तु जो सकामभावपूर्वक (अपने लिये) कर्म करता है, वह सदा दीन, बद्ध ही रहता है।

गीतामें कर्मयोगके लिये तीन शब्द आये हैं—बुद्धि, योग और बुद्धियोग। कर्मयोगमें 'कर्म' की प्रधानता नहीं है, प्रत्युत 'योग' की प्रधानता है। योग, बुद्धि और बुद्धियोग—तीनोंका एक ही अर्थ है। कर्मयोगमें व्यवसायात्मिका बुद्धिकी प्रधानता होनेसे इसको 'बुद्धि' कहा गया है और विवेकपूर्वक त्यागकी प्रधानता होनेसे इसको 'योग' या 'बुद्धियोग' कहा गया है।

* योगके बिना कर्म और ज्ञान—दोनों निरर्थक हैं, पर भक्ति निरर्थक नहीं है। कारण कि भक्तिमें भगवान्‌के साथ सम्बन्ध रहता है; अतः भगवान् स्वयं भक्तको योग प्रदान करते हैं—**'ददामि बुद्धियोगं तम्'** (गीता १०। १०)।

ध्यानयोगमें 'मन' की और कर्मयोगमें 'बुद्धि' की प्रधानता है। मनके निरोधमें स्थिरता और चञ्चलता दोनों बहुत दूरतक रहती है; क्योंकि इसमें साधक मनको संसारसे हटाना और परमात्मामें लगाना चाहता है। मनको संसारसे हटानेपर संसारकी सत्ता बनी रहती है—यह सिद्धान्त है कि जबतक दूसरी सत्ताकी मान्यता रहती है, तबतक मनका सर्वथा निरोध नहीं हो सकता। इसलिये समाधितक पहुँचनेपर भी समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ रहती हैं। परन्तु बुद्धिकी प्रधानता रहनेपर कर्मयोगमें विवेककी मुख्यता रहती है। विवेकमें सत् और असत्—दोनों रहते हैं। कर्मयोगी असत् वस्तुओंको सेवा-सामग्री मानकर उनको दूसरोंकी सेवामें लगा देता है, जिससे असत्‌का त्याग शीघ्र और सुगमतापूर्वक हो जाता है।

मनका निरोध करना निरन्तर नहीं होता, प्रत्युत समय-समयपर और एकान्तमें होता है। परन्तु व्यवसायात्मिका बुद्धि अर्थात् बुद्धिका एक निश्चय निरन्तर रहता है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ ५०॥

बुद्धियुक्तः	=बुद्धि (समता) से युक्त (मनुष्य)	**उभे**	=दोनोंका	**युज्यस्व**	=लग जा; (क्योंकि)
इह	=यहाँ (जीवित-अवस्थामें ही)	**जहाति**	=त्याग कर देता है।	**कर्मसु**	=कर्मोंमें
		तस्मात्	=अतः (तू)	**योगः**	=योग (ही)
सुकृतदुष्कृते	=पुण्य और पाप	**योगाय**	=योग (समता) में	**कौशलम्**	=कुशलता है।

विशेष भाव—इस श्लोकमें आये '**योगः कर्मसु कौशलम्**' पदोंपर विचार करें तो इनके दो अर्थ लिये जा सकते हैं—

(१) '**कर्मसु कौशलं योगः**' अर्थात् कर्मोंमें कुशलता ही योग है।

(२) '**कर्मसु योगः कौशलम्**' अर्थात् कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

अगर पहला अर्थ लिया जाय कि '*कर्मोंमें कुशलता ही योग है*' तो जो बड़ी कुशलतासे, सावधानीसे चोरी, ठगी आदि कर्म करता है, उसका कर्म 'योग' हो जायगा! परन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है और यहाँ निषिद्ध कर्मोंका प्रसंग भी नहीं है। अगर यहाँ शुभ कर्मोंको ही कुशलतापूर्वक करनेका नाम 'योग' मानें तो मनुष्य कुशलतापूर्वक सांगोपांग किये हुए शुभ कर्मोंके फलसे बँध जायगा—'**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५। १२)। अतः उसकी स्थिति समतामें नहीं रहेगी और उसके दुःखोंका नाश नहीं होगा।

शास्त्रमें आया है—'**कर्मणा बध्यते जन्तुः**' अर्थात् कर्मोंसे मनुष्य बँध जाता है। अतः जो कर्म स्वभावसे ही मनुष्यको बाँधनेवाले हैं, वे ही मुक्ति देनेवाले हो जायँ—यही वास्तवमें कर्मोंमें कुशलता है। मुक्ति योग (समता) से होती है, कर्मोंमें कुशलतासे नहीं। योग (समता) का आदि और अन्त नहीं होता। परन्तु कर्म कितने ही बढ़िया हों, उनका आरम्भ तथा अन्त होता है और उनके फलका भी संयोग तथा वियोग होता है। जिसका आरम्भ और अन्त, संयोग तथा वियोग होता है, उसके द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति कैसे होगी? नाशवान्‌के द्वारा अविनाशीकी प्राप्ति कैसे होगी? समता तो परमात्माका स्वरूप है—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**' (गीता ५। १९)। अतः महत्त्व योगका है, कर्मोंका नहीं।

अगर पहला अर्थ ही ठीक माना जाय तो भी 'कुशलता' के अन्तर्गत समता, निष्कामभावको ही लेना पड़ेगा। अगर कर्मोंमें कुशलता ही योग है तो कुशलता क्या है? इसके उत्तरमें यह कहना ही पड़ेगा कि योग (समता) ही कुशलता है। ऐसी स्थितिमें '*कर्मोंमें योग ही कुशलता है*' ऐसा सीधा अर्थ क्यों न ले लिया जाय? जब '**योगः कर्मसु कौशलम्**' पदोंमें 'योग' शब्द आया ही है, तो फिर 'कुशलता' का अर्थ योग लेनेकी जरूरत ही नहीं है!

अगर प्रकरणपर विचार करें तो योग (समता) का ही प्रकरण चल रहा है, कर्मोंकी कुशलताका नहीं। भगवान् '**समत्वं योग उच्यते**' कहकर योगकी परिभाषा भी बता चुके हैं। अतः इस प्रकरणमें योग ही विधेय है, कर्मोंमें

कुशलता विधेय नहीं है। योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मोंको करते हुए हृदयमें समता रहे, राग-द्वेष न रहें—यही कर्मोंमें कुशलता है। इसलिये '**योगः कर्मसु कौशलम्**'—यह योगकी परिभाषा नहीं है, प्रत्युत योगकी महिमा है।

इसी (पचासवें) श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌ने कहा है कि समतासे युक्त मनुष्य पुण्य और पाप दोनोंसे रहित हो जाता है। अगर मनुष्य पुण्य और पाप दोनोंसे रहित हो जाय तो फिर कौन-सा कर्म कुशलतासे किया जायगा? अतः पुण्य और पापसे रहित होनेका यह अर्थ नहीं है कि वह कोई भी क्रिया नहीं करता; क्योंकि कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्थामें क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (गीता ३। ५)। अतः यहाँ पुण्य और पाप दोनोंसे रहित होनेका अर्थ है—उनके फलसे रहित (मुक्त) होना। आगे इक्यावनवें श्लोकमें भी भगवान्‌ने '**फलं त्यक्त्वा**' पदोंसे फलके त्यागकी बात कही है।

गीतामें 'कुशल' शब्दका प्रयोग अठारहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी हुआ है। वहाँ 'अकुशल कर्म' के अन्तर्गत सकामभावसे किये जानेवाले और शास्त्रनिषिद्ध कर्म आये हैं तथा 'कुशल कर्म' के अन्तर्गत निष्कामभावसे किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्म आये हैं। अकुशल और कुशल कर्मोंका तो आदि-अन्त होता है, पर योगका आदि-अन्त नहीं होता। बाँधनेवाले राग-द्वेष हैं, कुशल-अकुशल कर्म नहीं। अतः रागपूर्वक किये गये कर्म कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों, वे बाँधनेवाले हैं ही; क्योंकि उन कर्मोंसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति भी हो जाय तो भी वहाँसे लौटकर पीछे आना पड़ता है (गीता ८। १६)। इसलिये जो मनुष्य अकुशल कर्मका त्याग द्वेषपूर्वक नहीं करता और कुशल कर्मका आचरण रागपूर्वक नहीं करता, वही वास्तवमें त्यागी, बुद्धिमान्, सन्देहरहित और अपने स्वरूपमें स्थित है*।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हुआ कि '**योगः कर्मसु कौशलम्**' पदोंका अर्थ 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है'—ऐसा ही मानना चाहिये। भगवान् भी योगमें स्थित होकर कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं—'**योगस्थः कुरु कर्माणि**' (२। ४८)। तात्पर्य है कि कर्मोंका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत योग (समता) का ही महत्त्व है। अतः कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

~~~

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ ५१॥

हि	= कारण कि	**फलम्**	= फलका अर्थात् संसारमात्रका		मुक्त होकर
बुद्धियुक्ताः	= समतायुक्त			**अनामयम्**	= निर्विकार
मनीषिणः	= बुद्धिमान् साधक	**त्यक्त्वा**	= त्याग करके	**पदम्**	= पदको
		जन्मबन्ध-		**गच्छन्ति**	= प्राप्त हो जाते हैं।
कर्मजम्	= कर्मजन्य	**विनिर्मुक्ताः**	= जन्मरूप बन्धनसे		

विशेष भाव—कर्मोंमें योग (समता) ही कुशलता क्यों है—इसका कारण '**हि**' पदसे इस श्लोकमें बताते हैं।

सात्त्विक कर्मका फल निर्मल है, राजस कर्मका फल दुःख है और तामस कर्मका फल मूढ़ता है (गीता १४। १६)—इन तीनों प्रकारके फलोंका समतायुक्त मनुष्य त्याग कर देता है। कर्मजन्य फलके त्यागके दो अर्थ हैं—फलकी इच्छाका त्याग करना और कर्मोंके फलस्वरूप अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर सुखी-दुःखी न होना।

वास्तवमें उत्पत्ति-विनाशशील सम्पूर्ण संसार कर्मफल है। नाशवान् वस्तुमात्र कर्मफल है। इसलिये संसारमें कर्मफलके सिवाय और कुछ है ही नहीं। कर्मफलका त्याग कर दें तो फिर कोई भी बन्धन बाकी नहीं रहता।

* **न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।**
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ (गीता १८। १०)
~~~

'मनीषी' शब्दका अर्थ है—बुद्धिमान्। पूर्व श्लोकके अनुसार समतापूर्वक कर्म करना ही बुद्धिमत्ता है—**'स बुद्धिमान्मनुष्येषु'** (गीता ४। १८)।

'पदं गच्छन्त्यनामयम्'—'गच्छन्ति' पदके तीन अर्थ होते हैं—१-ज्ञान होना, २-गमन करना और ३-प्राप्त होना। यहाँ निर्विकार पदकी प्राप्तिका अर्थ है—जन्म-मरणसे रहितपनेका और निर्विकार पदकी स्वत:सिद्ध प्राप्तिका ज्ञान हो जाना। कारण कि नित्य-निवृत्तकी ही निवृत्ति होती है और नित्यप्राप्तकी ही प्राप्ति होती है।

इस श्लोकसे यह सिद्ध होता है कि कर्मयोग मुक्तिका, कल्याणप्राप्तिका स्वतन्त्र साधन है। कर्मयोगसे संसारकी निवृत्ति और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति—दोनों हो जाते हैं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ ५२॥

यदा	= जिस समय	**व्यतितरिष्यति**	= भलीभाँति तर जायगी,	**श्रोतव्यस्य**	= सुननेमें आनेवाले (भोगोंसे)
ते	= तेरी	**तदा**	= उसी समय (तू)	**निर्वेदम्**	= वैराग्यको
बुद्धिः	= बुद्धि	**श्रुतस्य**	= सुने हुए	**गन्तासि**	= प्राप्त हो जायगा।
मोहकलिलम्	= मोहरूपी दलदलको	**च**	= और		

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ ५३॥

यदा	= जिस कालमें	**बुद्धिः**	= बुद्धि	**अचला**	= अचल (हो जायगी),
श्रुतिविप्रतिपन्ना	= शास्त्रीय मतभेदोंसे विचलित हुई	**निश्चला**	= निश्चल	**तदा**	= उस कालमें (तू)
ते	= तेरी	**स्थास्यति**	= हो जायगी (और)	**योगम्**	= योगको
		समाधौ	= परमात्मामें	**अवाप्स्यसि**	= प्राप्त हो जायगा।

विशेष भाव—मोहके दो विभाग हैं—'मोहकलिल' अर्थात् सांसारिक मोह और 'श्रुतिविप्रतिपत्ति' अर्थात् शास्त्रीय (दार्शनिक) मोह। शरीर, स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति आदिमें राग होना 'सांसारिक मोह' है और द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि दार्शनिक मतभेदोंमें उलझ जाना 'शास्त्रीय मोह' है। इन दोनोंका त्याग करनेपर मनुष्यका भोगोंसे वैराग्य हो जाता है और उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। बुद्धि स्थिर होनेपर योगकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् परमात्मासे दूरी मिट जाती है और समीपता हो जाती है। कर्मयोगसे समीपता होती है, ज्ञानयोगसे अभेद होता है और भक्तियोगसे अभिन्नता होती है। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंमेंसे एककी सिद्धि होनेपर साधक दोनोंके फलको प्राप्त कर लेता है (गीता ५। ४-५)।

मनुष्यका केवल अपने कल्याणका उद्देश्य हो और धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-परिवार आदिसे कोई स्वार्थका सम्बन्ध न हो तो वह सांसारिक मोहसे तर जाता है। पुस्तकोंकी पढ़ाई करनेका, शास्त्रोंकी बातें सीखनेका उद्देश्य न हो, प्रत्युत केवल तत्त्वका अनुभव करनेका उद्देश्य हो तो वह शास्त्रीय मोहसे तर जाता है। तात्पर्य है कि साधकको न तो सांसारिक मोहकी मुख्यता रखनी है और न शास्त्रीय (दार्शनिक) मतभेदकी मुख्यता रखनी है अर्थात् किसी मत, सम्प्रदायका कोई आग्रह नहीं रखना है। ऐसा होनेपर वह योगका, मुक्तिका अथवा भक्तिका अधिकारी हो जाता है। इससे अधिक किसी अधिकार-विशेषकी जरूरत नहीं है।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ ५४॥

अर्जुन बोले—

केशव	= हे केशव!	**भाषा**	= लक्षण होते हैं?	**किम्**	= कैसे
समाधिस्थस्य	= परमात्मामें स्थित	**स्थितधीः**	= (वह) स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य	**आसीत**	= बैठता है (और)
स्थितप्रज्ञस्य	= स्थिर बुद्धिवाले मनुष्यके	**किम्**	= कैसे	**किम्**	= कैसे
का	= क्या	**प्रभाषेत**	= बोलता है,	**व्रजेत**	= चलता है अर्थात् व्यवहार करता है?

~~~

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ ५५॥

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**प्रजहाति**	= भलीभाँति त्याग कर देता है (और)	**तुष्टः**	= सन्तुष्ट रहता है,
यदा	= जिस कालमें (साधक)	**आत्मना**	= अपने-आपसे	**तदा**	= उस कालमें (वह)
मनोगतान्	= मनमें आयी	**आत्मनि**	= अपने-आपमें	**स्थितप्रज्ञः**	= स्थिरबुद्धि
सर्वान्	= सम्पूर्ण	**एव**	= ही	**उच्यते**	= कहा जाता है।
कामान्	= कामनाओंका				

विशेष भाव—एक विभाग अस्थिर बुद्धिवालोंका है और एक विभाग स्थिर बुद्धिवालोंका है। अस्थिर बुद्धिवालोंकी बात तो पहले इकतालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक कह दी, अब स्थिर बुद्धिवालोंकी बात पचपनवेंसे इकहत्तरवें श्लोकतक कहते हैं। जिस समय साधक सांसारिक रुचिका त्याग करके अपने स्वरूपमें स्थित रहता है, उस समय वह स्थिर बुद्धिवाला कहा जाता है।

जिसका परमात्माका उद्देश्य होता है, उसकी बुद्धि एक निश्चयवाली होती है; क्योंकि परमात्मा भी एक ही हैं। परन्तु जिसका संसारका उद्देश्य होता है, उसकी बुद्धि असंख्य कामनाओंवाली होती है; क्योंकि सांसारिक वस्तुएँ असंख्य हैं (गीता २। ४१)।

समताकी प्राप्तिके लिये बुद्धिकी स्थिरता बहुत आवश्यक है। पातंजलयोगदर्शनमें तो मनकी स्थिरता (वृत्तिनिरोध) को महत्त्व दिया गया है, पर गीता बुद्धिकी स्थिरता (उद्देश्यकी दृढ़ता) को ही महत्त्व देती है। कारण कि कल्याणप्राप्तिमें मनकी स्थिरताका उतना महत्त्व नहीं है, जितना बुद्धिकी स्थिरताका महत्त्व है। मनकी स्थिरतासे लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, पर बुद्धिकी स्थिरतासे पारमार्थिक सिद्धि (कल्याणप्राप्ति) होती है। कर्मयोगमें बुद्धिकी स्थिरता ही मुख्य है। अगर मनकी स्थिरता होगी तो कर्मयोगी कर्तव्य-कर्म कैसे करेगा? कारण कि मन स्थिर होनेपर बाहरी क्रियाएँ रुक जाती हैं। भगवान् भी योग (समता) में स्थित होकर कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं—**'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२। ४८)।

'प्रजहाति' और **'कामान्सर्वान्'** पद देनेका तात्पर्य है कि किंचिन्मात्र भी कामना न रहे, पूरा-का-पूरा त्याग हो जाय। कारण कि यह कामना ही परमात्मप्राप्तिमें खास बाधक है।

~~~

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ ५६॥

दुःखेषु = दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर
अनुद्विग्नमनाः = जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता (और)
सुखेषु = सुखोंकी प्राप्ति होनेपर
विगतस्पृहः = जिसके मनमें स्पृहा नहीं होती (तथा)
वीतरागभयक्रोधः = जो राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित हो गया है, (वह)
मुनिः = मननशील मनुष्य
स्थितधीः = स्थिरबुद्धि
उच्यते = कहा जाता है।

~~~

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५७॥

सर्वत्र = सब जगह
अनभिस्नेहः = आसक्ति-रहित हुआ
यः = जो मनुष्य
तत्, तत् = उस-उस
शुभाशुभम् = शुभ-अशुभको
प्राप्य = प्राप्त करके
न = न तो
अभिनन्दति = प्रसन्न होता है (और)
न = न
द्वेष्टि = द्वेष करता है,
तस्य = उसकी
प्रज्ञा = बुद्धि
प्रतिष्ठिता = स्थिर है।

~~~

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ५८॥

इव, च = जिस तरह
कूर्मः = कछुआ
अङ्गानि = (अपने) अंगोंको
सर्वशः = सब ओरसे
संहरते = समेट लेता है, (ऐसे ही)
यदा = जिस कालमें
अयम् = यह (कर्मयोगी)
इन्द्रियार्थेभ्यः = इन्द्रियोंके विषयोंसे
इन्द्रियाणि = इन्द्रियोंको (सब प्रकारसे हटा लेता है, तब)
तस्य = उसकी
प्रज्ञा = बुद्धि
प्रतिष्ठिता = स्थिर हो जाती है।

~~~

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ ५९॥

निराहारस्य = निराहारी (इन्द्रियोंको विषयोंसे हटानेवाले)
देहिनः = मनुष्यके (भी)
विषयाः = विषय तो
विनिवर्तन्ते = निवृत्त हो जाते हैं, (पर)
रसवर्जम् = रस निवृत्त नहीं होता। (परन्तु)
परम् = परमात्मतत्त्वका
दृष्ट्वा = अनुभव होनेसे
अस्य = इस स्थितप्रज्ञ मनुष्यका
रसः = रस
अपि = भी
निवर्तते = निवृत्त हो जाता है अर्थात् उसकी संसारमें रसबुद्धि नहीं रहती।

विशेष भाव—भोगोंकी सत्ता और महत्ता माननेसे अन्तःकरणमें भोगोंके प्रति एक सूक्ष्म खिंचाव, प्रियता,
~~~

मिठास पैदा होती है, उसका नाम 'रस' है। किसी लोभी व्यक्तिको रुपये मिल जायँ और कामी व्यक्तिको स्त्री मिल जाय तो भीतर-ही-भीतर एक खुशी आती है, यही 'रस' है। भोग भोगनेके बाद मनुष्य कहता है कि 'बड़ा मजा आया'—यह उस रसकी ही स्मृति है। यह रस अहम् (चिज्जड़ग्रन्थि) में रहता है। इसी रसका स्थूल रूप राग, सुखासक्ति है।

जबतक संयोगजन्य सुखमें रसबुद्धि रहती है, तबतक प्रकृति तथा उसके कार्य (क्रिया, पदार्थ और व्यक्ति) की पराधीनता रहती ही है। रसबुद्धि निवृत्त होनेपर पराधीनता सर्वथा मिट जाती है, भोगोंके सुखकी परवशता नहीं रहती, भीतरसे भोगोंकी गुलामी नहीं रहती।

जबतक अन्त:करणमें किंचिन्मात्र भी भोगोंकी सत्ता और महत्ता रहती है, भोगोंमें रसबुद्धि रहती है, तबतक परमात्माका अलौकिक रस प्रकट नहीं होता । परमात्माके अलौकिक रसकी तो बात ही क्या, परमात्माकी प्राप्ति करनी है—यह निश्चय भी नहीं होता (गीता २। ४४)। बाहरसे इन्द्रियोंका विषयोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर अर्थात् भोगोंका त्याग करनेपर भी भीतरमें रसबुद्धि बनी रहती है। तत्त्वबोध होनेपर यह रसबुद्धि सूख जाती है, निवृत्त हो जाती है—'**परं दृष्ट्वा निवर्तते**'। तात्पर्य है कि जब संसारसे अपनी भिन्नता तथा परमात्मासे अपनी अभिन्नताका अनुभव हो जाता है, तब नाशवान् (संयोगजन्य) रसकी निवृत्ति हो जाती है। नाशवान् रसकी निवृत्ति होनेपर अविनाशी (अखण्ड) रसकी जागृति हो जाती है।

तत्त्वबोध होनेपर तो रस सर्वथा निवृत्त हो ही जाता है, पर तत्त्वबोध होनेसे पहले भी उसकी उपेक्षासे, विचारसे, सत्संगसे, संतकृपासे रस निवृत्त हो सकता है। जिनकी रसबुद्धि निवृत्त हो चुकी है, ऐसे तत्त्वज्ञ महापुरुषके संगसे भी रस निवृत्त हो सकता है।

कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग—तीनों साधनोंसे नाशवान् रसकी निवृत्ति हो जाती है। ज्यों-ज्यों कर्मयोगमें सेवाका रस, ज्ञानयोगमें तत्त्वके अनुभवका रस और भक्तियोगमें प्रेमका रस मिलने लगता है, त्यों-त्यों नाशवान् रस स्वत: छूटता चला जाता है। जैसे बचपनमें खिलौनोंमें रस मिलता था, पर बड़े होनेपर जब रुपयोंमें रस मिलने लगता है, तब खिलौनोंका रस स्वत: छूट जाता है, ऐसे ही साधनका रस मिलनेपर भोगोंका रस स्वत: छूट जाता है।

रसबुद्धिके रहते हुए जब भोगोंकी प्राप्ति होती है, तब मनुष्यका चित्त पिघल जाता है तथा वह भोगोंके वशीभूत हो जाता है। परन्तु रसबुद्धि निवृत्त होनेके बाद जब भोगोंकी प्राप्ति होती है, तब तत्त्वज्ञ महापुरुषके चित्तमें किंचिन्मात्र भी कोई विकार पैदा नहीं होता (गीता २। ७०)। उसके भीतर ऐसी कोई वृत्ति पैदा नहीं होती, जिससे भोग उसको अपनी ओर खींच सकें। जैसे, पशुके आगे रुपयोंकी थैली रख दें तो उसमें लोभ-वृत्ति पैदा नहीं होती और सुन्दर स्त्रीको देखकर उसमें काम-वृत्ति पैदा नहीं होती। पशु तो रुपयोंको और स्त्रीको जानता नहीं, पर तत्त्वज्ञ महापुरुष रुपयोंको भी जानता है और स्त्रीको भी (गीता २। ६९), फिर भी उसमें लोभ-वृत्ति और काम-वृत्ति पैदा नहीं होती। जैसे हम अंगुलीसे शरीरके किसी अंगको खुजलाते हैं तो खुजली मिटनेपर अंगुलीमें कोई फर्क नहीं पड़ता, कोई विकृति नहीं आती, ऐसे ही इन्द्रियोंसे विषयोंका सेवन होनेपर भी तत्त्वज्ञके चित्तमें कोई विकार नहीं आता, वह ज्यों-का-त्यों निर्विकार रहता है। कारण कि रसबुद्धि निवृत्त हो जानेसे वह अपने सुखके लिये किसी विषयमें प्रवृत्त होता ही नहीं। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरोंके हित और सुखके लिये ही होती है। अपने सुखके लिये किया गया विषयोंका चिन्तन भी पतन करनेवाला हो जाता है (गीता २। ६२-६३) और अपने सुखके लिये न किया गया विषयोंका सेवन भी बन्धनकारक नहीं होता (गीता २। ६४-६५)।

नाशवान् रस तात्कालिक होता है, अधिक देर नहीं ठहरता। स्त्री, रुपये आदिकी प्राप्तिके समय जो रस आता है, वह बादमें नहीं रहता। भोजनके मिलनेपर जो रस आता है, वह प्रत्येक ग्रासमें कम होते-होते अन्तमें सर्वथा मिट जाता है और भोजनसे अरुचि पैदा हो जाती है! परन्तु अविनाशी रस कभी कम नहीं होता, प्रत्युत ज्यों-का-त्यों (अखण्ड) रहता है। नाशवान् रसका भोग करनेसे परिणाममें जड़ता, अभाव, शोक, रोग, भय, उद्वेग आदि अनेक विकार पैदा होते हैं। इन विकारोंसे भोगी मनुष्य बच नहीं सकता; क्योंकि यह भोगोंका अवश्यम्भावी परिणाम

है। इसलिये भगवान्‌ने दु:खोंका दर्शन करनेकी बात कही है—**'दु:खदोषानुदर्शनम्'** (गीता १३। ८)। कामादि दोषोंसे मुक्त होनेपर ही मनुष्य अपने कल्याणका आचरण करता है (गीता १६। २१-२२)।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६०॥

हि	= कारण कि	**विपश्चितः**	= विद्वान्	**इन्द्रियाणि**	= इन्द्रियाँ
कौन्तेय	= हे कुन्तीनन्दन! (रसबुद्धि रहनेसे)	**पुरुषस्य**	= मनुष्यकी	**मनः**	= (उसके) मनको
		अपि	= भी	**प्रसभम्**	= बलपूर्वक
यततः	= यत्न करते हुए	**प्रमाथीनि**	= प्रमथनशील	**हरन्ति**	= हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१॥

युक्तः	= कर्मयोगी साधक	**मत्परः**	= मेरे परायण होकर	**इन्द्रियाणि**	= इन्द्रियाँ
तानि	= उन			**वशे**	= वशमें हैं,
सर्वाणि	= सम्पूर्ण इन्द्रियोंको	**आसीत**	= बैठे;	**तस्य**	= उसकी
		हि	= क्योंकि	**प्रज्ञा**	= बुद्धि
संयम्य	= वशमें करके	**यस्य**	= जिसकी	**प्रतिष्ठिता**	= स्थिर है।

विशेष भाव—कर्मयोगके साधकके लिये भी भगवान्‌ने **'मत्परः'** पदसे अपने परायण होनेकी बात कही है, यह भक्तिकी विशेषता है! कारण कि भगवान्‌के परायण हुए बिना इन्द्रियोंका सर्वथा वशमें होना कठिन है।

कर्मयोगमें त्याग है और त्यागसे शान्ति, सुख मिलता है। परन्तु यह प्राप्तिका सुख नहीं है, प्रत्युत दु:ख (अशान्ति) मिटनेका सुख है, जबकि भक्तिमें प्राप्तिका सुख मिलता है। अतः भक्तिका (प्रेमका) सुख मिले बिना इन्द्रियाँ सर्वथा वशमें नहीं होतीं। दूसरी बात, कर्मयोगमें तो अत्यन्त वैराग्य होनेपर इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, पर भक्तिमें (भगवान्‌के परायण होनेसे) थोड़े वैराग्यसे भी इन्द्रियाँ सुगमतासे वशमें हो जाती हैं। इसलिये भगवान्‌ने **'मत्परः'** पद दिया है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥

विषयान्	= विषयोंका	**कामः**	= कामना	**सम्मोहः**	= सम्मोह (मूढ़भाव)
ध्यायतः	= चिन्तन करनेवाले	**सञ्जायते**	= पैदा होती है।		
पुंसः	= मनुष्यकी	**कामात्**	= कामनासे (बाधा लगनेपर)	**भवति**	= हो जाता है।
तेषु	= उन विषयोंमें			**सम्मोहात्**	= सम्मोहसे
सङ्गः	= आसक्ति	**क्रोधः**	= क्रोध	**स्मृतिविभ्रमः**	= स्मृति भ्रष्ट हो जाती है।
उपजायते	= पैदा हो जाती है	**अभिजायते**	= पैदा होता है।		
सङ्गात्	= आसक्तिसे	**क्रोधात्**	= क्रोध होनेपर	**स्मृतिभ्रंशात्**	= स्मृति भ्रष्ट होनेपर

बुद्धिनाशः	= बुद्धि (विवेक) का नाश हो जाता है।
बुद्धिनाशात्	= बुद्धिका नाश होनेपर (मनुष्यका)
प्रणश्यति	= पतन हो जाता है।

~~~

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

तु	= परन्तु
विधेयात्मा	= वशीभूत अन्तः-करणवाला (कर्मयोगी साधक)
रागद्वेषवियुक्तैः	= राग-द्वेषसे रहित
आत्मवश्यैः	= अपने वशमें की हुई
इन्द्रियैः	= इन्द्रियोंके द्वारा
विषयान्	= विषयोंका
चरन्	= सेवन करता हुआ
प्रसादम्	= (अन्तःकरणकी) निर्मलताको
अधिगच्छति	= प्राप्त हो जाता है।
प्रसादे	= (अन्तःकरणकी) निर्मलता प्राप्त होनेपर
अस्य	= साधकके
सर्वदुःखानाम्	= सम्पूर्ण दुःखोंका
हानिः	= नाश
उपजायते	= हो जाता है (और ऐसे)
प्रसन्नचेतसः	= शुद्ध चित्तवाले साधककी
बुद्धिः	= बुद्धि
हि	= निःसन्देह
आशु	= बहुत जल्दी
पर्यवतिष्ठते	= (परमात्मामें) स्थिर हो जाती है।

विशेष भाव—एक विभाग भोगका है और एक विभाग योगका है। राग-द्वेषसे युक्त 'भोगी' मनुष्य अगर विषयोंका चिन्तन भी करे तो उसका पतन हो जाता है (गीता २। ६२-६३)। परन्तु राग-द्वेषसे रहित 'योगी' मनुष्य अगर विषयोंका सेवन भी करे तो उसका पतन नहीं होता, प्रत्युत वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है।

राग-द्वेषसे रहित मनुष्य भोगबुद्धिसे विषयोंका सेवन नहीं करता अर्थात् भोगजन्य सुख (रस) नहीं लेता; क्योंकि यह उसका ध्येय नहीं है। वह भोगोंको रागपूर्वक न भोगकर त्यागपूर्वक भोगता है (गीता ३। ३४)। इसलिये उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। त्यागपूर्वक भोग वास्तवमें भोग है ही नहीं। लोगोंकी दृष्टिमें उसके द्वारा भोगका आचरण दीखता है, इसीलिये यहाँ '**विषयान् चरन्**' पद आये हैं।

राग-द्वेषसे रहित होनेपर 'प्रसाद' की प्राप्ति होती है। हरदम प्रसन्नता रहे, कभी खिन्नता न आये, नीरसता न आये—यह 'प्रसाद' है। इस प्रसादकी प्राप्तिमें भी सन्तोष न करे, इसका उपभोग न करे तो बहुत जल्दी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

~~~

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥

अयुक्तस्य	= जिसके मन-इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, ऐसे मनुष्यकी
बुद्धिः	= (व्यवसायात्मिका) बुद्धि
न	= नहीं
अस्ति	= होती
च	= और
अयुक्तस्य	= (व्यवसायात्मिका बुद्धि न होनेसे) उस अयुक्त मनुष्यमें
भावना	= निष्कामभाव अथवा कर्तव्य-परायणताका भाव
न	= नहीं होता।
अभावयतः	= निष्कामभाव न

	होनेसे (उसको)	**च**	= फिर	**सुखम्**	= सुख
शान्तिः	= शान्ति	**अशान्तस्य**	= शान्तिरहित मनुष्यको	**कुतः**	= कैसे (मिल सकता है)?
न	= नहीं मिलती।				

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥

हि	= कारण कि	**यत्**	= जिस	**अम्भसि**	= जलमें
चरताम्	= (अपने-अपने विषयोंमें) विचरती हुई	**मनः**	= मनको	**नावम्**	= नौकाको
		अनुविधीयते	= अपना अनुगामी बना लेती है,	**वायुः**	= वायुकी
				इव	= तरह
इन्द्रियाणाम्	= इन्द्रियोंमेंसे (एक ही इन्द्रिय)			**अस्य**	= इसकी
		तत्	= वह (अकेला मन)	**प्रज्ञाम्**	= बुद्धिको
				हरति	= हर लेता है।

विशेष भाव—यहाँ शंका हो सकती है कि प्रस्तुत श्लोकमें आये '**यत्**' और '**तत्**' पदोंसे इन्द्रियोंको न लेकर मनको क्यों लिया गया है अर्थात् इन्द्रियको बुद्धिका हरण करनेवाली न बताकर मनको बुद्धिका हरण करनेवाला क्यों बताया गया है? इसका समाधान है कि इसी अध्यायके साठवें श्लोकमें इन्द्रियोंको मनका हरण करनेवाली बताया है और तीसरे अध्यायके बयालीसवें श्लोकमें इन्द्रियोंसे मनको और मनसे बुद्धिको पर (सूक्ष्म, श्रेष्ठ, बलवान्) बताया है। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ मनका हरण करती हैं और मन बुद्धिका हरण करता है। दूसरी बात, बुद्धिको हरनेके विषयमें मन ही मुख्य है, इन्द्रियाँ नहीं। कारण कि जबतक किसी इन्द्रियके साथ मन नहीं रहता, तबतक उस इन्द्रियको अपने विषयका भी ज्ञान नहीं होता—'**अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते**' (गीता १५। ९)। श्रीमद्भागवतमें दत्तात्रेयजी महाराज कहते हैं—

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो न वेद किञ्चिद् बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तमिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे॥

(श्रीमद्भा० ११। ९। १३)

'जिसका चित्त आत्मामें ही निरुद्ध हो जाता है, उसको बाहर-भीतर कहीं किसी पदार्थका भान नहीं होता। मैंने देखा था कि एक बाण बनानेवाला कारीगर बाण बनानेमें इतना तन्मय हो रहा था कि उसके पाससे ही दलबलके साथ राजाकी सवारी निकल गयी और उसको पतातक न चला।'

बाण बनानेवालेकी कर्णेन्द्रिय भी थी और उसका विषय शब्द भी था, पर मन उस तरफ न रहनेसे वह सुनायी नहीं दिया। तात्पर्य है कि मन साथ रहनेसे ही इन्द्रियको अपने विषयका ज्ञान होता है। जब मन साथ न रहनेसे इन्द्रियको अपने विषयका भी ज्ञान नहीं होता, फिर वह इन्द्रिय बुद्धिको कैसे हर सकती है? नहीं हर सकती।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६८॥

तस्मात्	= इसलिये	**इन्द्रियार्थेभ्यः**	= इन्द्रियोंके विषयोंसे		हुई हैं,
महाबाहो	= हे महाबाहो!			**तस्य**	= उसकी
यस्य	= जिस मनुष्यकी	**सर्वशः**	= सर्वथा	**प्रज्ञा**	= बुद्धि
इन्द्रियाणि	= इन्द्रियाँ	**निगृहीतानि**	= वशमें की	**प्रतिष्ठिता**	= स्थिर है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

सर्वभूतानाम्	=सम्पूर्ण प्राणियोंकी	**जागर्ति**	=जागता है (और)		रहते हैं),
या	=जो	**यस्याम्**	=जिसमें	**सा**	=वह
निशा	=रात (परमात्मासे विमुखता) है,	**भूतानि**	=सब प्राणी	**मुनेः**	=(तत्त्वको जाननेवाले) मुनिकी
तस्याम्	=उसमें	**जाग्रति**	=जागते हैं (भोग और संग्रहमें लगे	**पश्यतः**	=दृष्टिमें
संयमी	=संयमी मनुष्य			**निशा**	=रात है।

विशेष भाव—सांसारिक मनुष्य रात-दिन भोग और संग्रहमें ही लगे रहते हैं, उनको ही महत्ता देते हैं, सांसारिक कार्योंमें बड़े सावधान और निपुण होते हैं, तरह-तरहके कला-कौशल सीखते हैं, तरह-तरहके आविष्कार करते हैं, लौकिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें ही अपनी उन्नति मानते हैं, सांसारिक वस्तुओंकी बड़ी महिमा गाते हैं, सदा जीवित रहकर सुख भोगनेके लिये बड़ी-बड़ी तपस्या करते हैं, देवताओंकी उपासना करते हैं, मन्त्र-जप करते हैं आदि-आदि। परन्तु जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुष तथा सच्चे साधकोंकी दृष्टिमें वह बिलकुल रात है, अन्धकार है; उसका किंचिन्मात्र भी महत्त्व नहीं है। कारण कि उनकी दृष्टिमें ब्रह्मलोकतक सम्पूर्ण संसार विद्यमान है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६), '**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**' (गीता ८। १६)।

सांसारिक लोग तो संसारमें ही रचे-पचे रहते हैं और ऐसा मानते हैं कि जो कुछ है, वह यही है—'**नान्यदस्तीति वादिनः**' (गीता २। ४२)। '**कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः**' (गीता १६। ११)। पारमार्थिक विषयमें उनकी बुद्धि जाती ही नहीं। परन्तु पारमार्थिक साधक पारमार्थिक विषयके साथ-साथ संसारको भी जानते हैं, इसलिये उनके लिये '**पश्यतः**' पद दिया है। संसारी लोग तो केवल रातको ही देखते हैं, दिनको देखते ही नहीं, पर योगी दिनको भी देखता है और रातको भी—यह दोनोंमें फर्क है। उदाहरणार्थ, बालकने केवल बालकपना ही देखा है, जवानी नहीं, पर वृद्ध पुरुषने वृद्धावस्थाके साथ-साथ बालकपना भी देखा है और जवानी भी! रुपये रखनेवाला व्यक्ति रुपयोंके त्यागको नहीं जानता, पर रुपयोंका त्याग करनेवाला रुपयोंके संग्रहको भी जानता है और त्यागको भी जानता है। यह सिद्धान्त है कि संसारमें लगा हुआ मनुष्य संसारको नहीं जान सकता। संसारसे अलग होकर ही वह संसारको जान सकता है; क्योंकि वास्तवमें वह संसारसे अलग है। इसी तरह परमात्माके साथ एक होकर ही मनुष्य परमात्माको जान सकता है; क्योंकि वास्तवमें वह परमात्माके साथ एक है।

जो 'है' में स्थित है, वह 'है' और 'नहीं'—दोनोंको जानता है, पर जो 'नहीं' में स्थित है, वह 'नहीं' को भी यथार्थरूपसे अर्थात् 'नहीं'-रूपसे नहीं जान सकता, फिर वह 'है' को कैसे जानेगा? नहीं जान सकता। उसमें जाननेकी सामर्थ्य ही नहीं है। 'है' को जाननेवालेका तो 'नहीं' को माननेवालेके साथ विरोध नहीं होता, पर 'नहीं' को माननेवालेका 'है' को जाननेवालेके साथ विरोध होता है।

~~~

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं-
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ ७० ॥

यद्वत्	=जैसे	**आपूर्यमाणम्**	=चारों ओरसे जलद्वारा परिपूर्ण	**समुद्रम्**	=समुद्रमें
आपः	=(सम्पूर्ण नदियोंका) जल			**प्रविशन्ति**	=आकर मिलता है, (पर)
~~~

अचलप्रतिष्ठम्	= (समुद्र अपनी मर्यादामें) अचल स्थित रहता है,	**यम्**	= जिस संयमी मनुष्यको (विकार उत्पन्न किये बिना ही)	**सः**	= वही मनुष्य
तद्वत्	= ऐसे ही	**प्रविशन्ति**	= प्राप्त होते हैं,	**शान्तिम्**	= परमशान्तिको
सर्वे	= सम्पूर्ण			**आप्नोति**	= प्राप्त होता है,
कामाः	= भोग-पदार्थ			**कामकामी**	= भोगोंकी कामनावाला
				न	= नहीं।

विशेष भाव—अपनी कामनाके कारण ही यह संसार जड़ दीखता है। वास्तवमें तो यह चिन्मय परमात्मा ही है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९), '**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। अतः जब मनुष्य कामना-रहित हो जाता है, तब उससे सभी वस्तुएँ प्रसन्न हो जाती हैं। वस्तुओंके प्रसन्न होनेकी पहचान यह है कि उस निष्काम महापुरुषके पास आवश्यक वस्तुएँ अपने-आप आने लगती हैं। उसके पास आकर सफल होनेके लिये वस्तुएँ लालायित रहती हैं। परन्तु कामना न रहनेके कारण वस्तुओंके प्राप्त होनेपर अथवा न होनेपर भी उसके भीतर कोई विकार (हर्ष आदि) उत्पन्न नहीं होता। उसकी दृष्टिमें वस्तुओंका कोई मूल्य (महत्त्व) है ही नहीं। इसके विपरीत कामनावाले मनुष्यको वस्तुएँ प्राप्त हों अथवा न हों, उसके भीतर सदा अशान्ति बनी रहती है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ ७१॥

यः	= जो	**विहाय**	= त्याग करके	**चरति**	= आचरण करता है,
पुमान्	= मनुष्य	**निःस्पृहः**	= स्पृहारहित,	**सः**	= वह
सर्वान्	= सम्पूर्ण	**निर्ममः**	= ममतारहित (और)	**शान्तिम्**	= शान्तिको
कामान्	= कामनाओंका	**निरहङ्कारः**	= अहंतारहित होकर	**अधिगच्छति**	= प्राप्त होता है।

विशेष भाव—पहले '**सोऽमृतत्वाय कल्पते**' (२। १५) कहकर ज्ञानयोगकी सिद्धि (पूर्णता) बतायी थी, अब '**स शान्तिमधिगच्छति**' कहकर कर्मयोगकी सिद्धि बताते हैं। तात्पर्य है कि चिन्मयता (स्वरूप) में स्थिति होनेसे अमृतकी प्राप्ति होती है और जड़ता (अहंता) के त्यागसे शान्तिकी प्राप्ति होती है।

अहंता अपने स्वरूपमें मानी हुई है, वास्तवमें है नहीं। अगर यह वास्तवमें होती तो हम कभी निरहंकार नहीं हो सकते थे और भगवान् भी निरहंकार होनेकी बात नहीं कहते। परन्तु भगवान् '**निरहङ्कारः**' कहते हैं; अतः हम अहंकाररहित हो सकते हैं। हमारा अनुभव भी है कि वास्तवमें स्वरूप अहंकाररहित है। सुषुप्तिके समय अहम्के अभावका और स्वयं (अपनी सत्ता) के भावका अनुभव सबको होता है, जिसका स्पष्ट बोध जगनेपर होता है। सुषुप्तिमें अहम् अविद्यामें लीन हो जाता है, पर स्वयं रहता है। इसलिये सुषुप्तिसे जगनेपर (उसकी स्मृतिसे) हम कहते हैं कि 'मैं ऐसे सुखसे सोया कि मेरेको कुछ पता नहीं था'। इस स्मृतिसे सिद्ध होता है कि सुखका अनुभव करनेवाला और 'कुछ पता नहीं था' यह कहनेवाला तो था ही! नहीं तो सुखका अनुभव किसको हुआ और 'कुछ पता नहीं था'—यह बात किसने जानी? अतः 'कुछ पता नहीं था'—यह अहम्का अभाव है और इसका ज्ञान जिसको है, वह अहंरहित स्वरूप है।

एक स्त्रीकी नथ कुएँमें गिर गयी। उसको निकालनेके लिये एक आदमी कुएँमें उतरा और जलके भीतर जाकर उस नथको ढूँढ़ने लगा। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वह नथ उसके हाथ लग गयी तो उसको बड़ी प्रसन्नता हुई। परन्तु उस समय वह कुछ बोल नहीं सका; क्योंकि वाणी (अग्नि) और जलका आपसमें विरोध है। अतः जलसे बाहर आनेपर ही वह बोल सका कि 'नथ मिल गयी!' ऐसे ही सुषुप्तिमें अहम्के लीन होनेपर मनुष्य सुखका अनुभव तो करता है, पर उसको व्यक्त नहीं कर सकता; क्योंकि बोलनेका साधन नहीं रहा। सुषुप्तिसे जगनेपर ही उसको सुषुप्तिके सुखकी स्मृति होती है। स्मृति अनुभवजन्य होती है—'**अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिः**'।

इस प्रकार सुषुप्तिमें अहम्‌के अभावका अनुभव तो सबको होता है, पर अपने अभावका अनुभव किसीको कभी नहीं होता। अहंकार हमारे बिना नहीं रह सकता, पर हम (स्वयं) अहंकारके बिना रह सकते हैं और रहते ही हैं। हमारा स्वरूप चिन्मय सत्तामात्र है। इस नित्य सत्ताको किसीकी अपेक्षा नहीं है, पर सत्ताकी अपेक्षा सबको है। अगर हम अहम्‌से अलग न होते, अहंकाररूप ही होते तो सुषुप्तिमें अहंकारके लीन होनेपर हम भी नहीं रहते। अतः अहंकारके बिना भी हमारा होनापना सिद्ध होता है। जाग्रत् और स्वप्नमें अहम् प्रकट रहता है और सुषुप्तिमें अहम् लीन हो जाता है, पर हम स्वयं निरन्तर रहते हैं। जो प्रकट और लीन नहीं होता, वही हमारा स्वरूप है।

कामनाका त्याग होनेपर भी शरीरनिर्वाहमात्रके लिये कुछ-न-कुछ वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिकी आवश्यकता रह जाती है, जिसको '**स्पृहा**' कहते हैं। स्थितप्रज्ञ महापुरुषमें शरीरनिर्वाहमात्रकी आवश्यकताका तो कहना ही क्या, शरीरकी भी आवश्यकता नहीं रहती। कारण कि शरीरकी आवश्यकता ही मनुष्यको पराधीन बनाती है। आवश्यकता तभी पैदा होती है, जब मनुष्य उस वस्तुको स्वीकार कर लेता है, जो अपनी नहीं है। कर्मयोगी किसी भी वस्तुको अपनी और अपने लिये नहीं मानता, प्रत्युत संसारकी और संसारके लिये ही मानता है। इसलिये उसको किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं रहती।

'कामना' और 'स्पृहा'—दोनोंका त्याग करनेका तात्पर्य है कि वस्तुओंकी कामना भी न हो और निर्वाहमात्रकी कामना (शरीरकी आवश्यकता) भी न हो। कारण कि निर्वाहमात्रकी कामना भी सुखभोग ही है। इतना ही नहीं, शान्ति, मुक्ति, तत्त्वज्ञान आदिको प्राप्त करनेकी इच्छा भी कामना है! अतः निष्कामभावमें मुक्तितककी भी कामना नहीं होनी चाहिये।

शास्त्रीय दृष्टिसे पहले कामनाका त्याग, फिर स्पृहा, ममता और अहंकारका त्याग बताया जाता है। परन्तु साधककी दृष्टिसे पहले ममताका त्याग, फिर कामना, स्पृहा और अहंकारका त्याग करना ही ठीक है। सबसे पहले ममताका त्याग करना सुगम पड़ता है। मनुष्य पहले ममतासे अर्थात् प्राप्त वस्तुके सम्बन्धसे ही फँसता है। पहले ममताका त्याग करनेसे निष्काम होनेकी सामर्थ्य आ जाती है, कामनाका त्याग करनेसे निःस्पृह होनेकी सामर्थ्य आ जाती है और स्पृहाका त्याग करनेसे निरहंकार होनेकी सामर्थ्य आ जाती है। शास्त्रीय दृष्टिके अनुसार चलनेसे मनुष्य पण्डित हो जाता है और साधककी दृष्टिके अनुसार चलनेसे मनुष्यको अनुभव हो जाता है।

इस श्लोकमें अपरा प्रकृतिका निषेध है। जीवने अहंकारके कारण अपरा प्रकृति (जगत्) को धारण किया है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। अतः निरहंकार होनेपर अपरा प्रकृतिका निषेध (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जाता है और जीव जन्म-मरणरूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है। सबका त्याग होनेपर भी अहंकार शेष रह जाता है, पर अहंकारका त्याग होनेपर सबका त्याग हो जाता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ ७२॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!
एषा	= यह
ब्राह्मी	= ब्राह्मी
स्थितिः	= स्थिति है।
एनाम्	= इसको
प्राप्य	= प्राप्त होकर (कभी कोई)
न, विमुह्यति	= मोहित नहीं होता।
अस्याम्	= इस स्थितिमें (यदि)
अन्तकाले	= अन्तकालमें
अपि	= भी
स्थित्वा	= स्थित हो जाय (तो)
ब्रह्मनिर्वाणम्	= निर्वाण (शान्त) ब्रह्मकी
ऋच्छति	= प्राप्ति हो जाती है।

विशेष भाव—निर्मम और निरहंकार होनेसे साधकका असत्-विभागसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और सत्-विभागमें अर्थात् ब्रह्ममें अपनी स्वतः स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जाता है, जिसको 'ब्राह्मी स्थिति' कहते

हैं। इस ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त होनेपर शरीरका कोई मालिक नहीं रहता अर्थात् शरीरको मैं-मेरा कहनेवाला कोई नहीं रहता, व्यक्तित्व मिट जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि हमारी स्थिति अहंकारके आश्रित नहीं है। अहंकारके मिटनेपर भी हमारी स्थिति रहती है, जो 'ब्राह्मी स्थिति' कहलाती है। एक बार इस ब्राह्मी स्थिति (नित्ययोग) का अनुभव होनेपर फिर कभी मोह नहीं होता (गीता ४। ३५)। अगर अन्तकालमें भी मनुष्य निर्मम-निरहंकार होकर ब्राह्मी स्थितिका अनुभव कर ले तो उसको तत्काल निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

निर्मम-निरहंकार होनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति, तत्त्वज्ञान हो जाता है। फिर मनुष्य ममतारहित, कामनारहित और कर्तृत्वरहित हो जाता है। कारण कि जीवने अहम्‌के कारण ही जगत्‌को धारण किया है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७), **'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। यदि वह अहम्‌का त्याग कर दे तो फिर जगत् नहीं रहेगा। ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर (अगर भक्तिके संस्कार हों तो) समग्र परमात्माकी प्राप्ति स्वत: हो जाती है; क्योंकि समग्र परमात्मा ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं।

मेरा कुछ नहीं है—इसको स्वीकार करनेसे मनुष्य 'निर्मम' हो जाता है, मेरेको कुछ नहीं चाहिये—इसको स्वीकार करनेसे मनुष्य 'निष्काम' हो जाता है। मेरेको अपने लिये कुछ नहीं करना है—इसको स्वीकार करनेसे मनुष्य 'निरहंकार' हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥